अध्यात्म विषयक लेख

रमेश चन्द्र गुप्त 'विनीत'

स्वामी रामानन्द जी महाराज

अध्यात्म विषयक लेख

रमेश चन्द्र गुप्त 'विनीत'

अध्यात्म विषयक लेख

प्रथम संस्करण
आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा (श्री गुरु पूर्णिमा)
विक्रम संवत् 2081
तद्नुसार 21 जुलाई 2024
को प्रकाशित

मूल्यः सदुपयोग

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान
रमेश चन्द्र गुप्त 'विनीत'
1018, महागुन मैंशन-1, इन्दिरापुरम्, गाज़ियाबाद-201014
दूरभाषः 9818385001

डिजाइन व कम्पोजिंग
ग्रेटो इंटरप्राइजेज
जी-30, सरिता विहार, नई दिल्ली-110076
दूरभाषः 9910794578

प्राक्कथन

इस पुस्तक में गीता और रामचरितमानस में से अध्यात्म से सम्बन्धित कुछ ऐसे विषय चुने गये हैं जिनका आशय गहराई में उतरने से ही समझ में आ सकता है। लेखक ने ऐसे ही विषयों को अपने शब्दों में समझाने की चेष्टा की है। इस प्रयास में गीता और मानस से ही अन्य स्थानों पर उपलब्ध सन्दर्भ उद्धृत किये गये हैं। उद्देश्य है कठिन विषयों को आसान बना कर समझाना। उदाहरण के लिये गीता में आया है –

नियतं कर्म कुरु त्वं।

पाठक के मन में सहज ही प्रश्न उठ सकता है कि आखिर नियत कर्म हैं कौन-से। इसका उत्तर भी गीता में ही उपलब्ध है परन्तु विभिन्न स्थानों पर। उसको एक स्थान पर विषय के अनुसार रख दिया जाये तो समझने में आसानी होगी। पुस्तक में ऐसा ही प्रयास किया गया है। लेखक अपने अध्ययन और क्षमता के अनुसार जो कुछ समझ सका है उसी को अपने शब्दों में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है।

सुधी पाठक गण इसमें व्यक्त किये गये विचारों से असहमत हो सकते हैं जिसका उन्हें पूरा अधिकार है। फिर भी आशा की जाती है कि गीता और रामचरितमानस को समझने की जिज्ञासा रखने वाले प्रारम्भिक स्तर के साधकों को इस पुस्तक से कुछ लाभ हो सकता है।

इस पुस्तक में यदि कुछ भी उपयोगी लगता हो तो जनहित में इसका प्रचार-प्रसार कोई भी कर सकता है।

रमेश चन्द्र गुप्त 'विनीत'

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

1. कर्मयोग द्वारा भगवत् प्राप्ति. 5-8
2. अनन्य भक्ति. 9-21
3. श्रद्धा और विश्वास. 22-25
4. दान की महिमा. 26-28
5. मम पन सरनागत भयहारी. 29-31
6. तस्माद्योगी भवार्जुन. 32-35
7. सुमति कुमति सब के उर रहहीं. 36-41
8. मौन का महत्त्व. 42-45
9. जीव कि ईस समान.....46-50
10. गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा. 51-56
11. त्याग की अनिवार्यता. 57-61
12. प्रकृति के तीन गुण. 62-64
13. गीता और संन्यास.....65-68
14. नियतं कुरु कर्म त्वं. 69-75
15. ईश-प्रदत्त साधन व उनका उपयोग. 76-80
16. क्या खोया क्या पाया. 81-84
17. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः.....85-91
18. पुनर्जन्म न विद्यते. 92-97
19. सर्वधर्मान्परित्यज्य. 98-103
20. योगक्षेमं वहाम्यहम्. 104-109
21. तप की महिमा. 110-117
22. श्रद्धा एवं शास्त्रविधि. 118-122
23. धर्म की परिभाषा. 123-128

❖ ❖ ❖

कर्मयोग द्वारा भगवत् प्राप्ति

श्रीमद्देवीभागवत में एक श्लोक आता है –

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
ना भुक्तं क्षीयते कर्म कल्प कोटि शतैरपि॥

अर्थात् मानव जो भी शुभ अथवा अशुभ कर्म करता है, वे बिना फल दिये समाप्त नहीं होते चाहे करोडों कल्प बीत जाएँ। दूसरे शब्दों में, एक बार जो भी कर्म हमने मन से, वाणी से या शरीर से कर दिया वह हमारे मानस पटल पर अंकित हो गया सदा के लिये और वह तभी मिटेगा जब उसका फल हम भोग लेंगे। उपरोक्त श्लोक के अनुसार प्रलय होने पर भी कर्म नष्ट नहीं होता। गीता के आठवें अध्याय के 17वें श्लोक में कहा गया है कि ब्रह्मा का एक दिन एक हजार चतुर्युगी तक की अवधि वाला होता है और रात्रि भी इतनी ही अवधि वाली होती है। अगले श्लोक में बताया गया है कि सम्पूर्ण चराचर भूतगण ब्रह्मा के दिन के प्रवेश काल में उत्पन्न होते हैं और रात्रि के प्रवेश काल में ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर में लीन हो जाते हैं। ज्ञातव्य है कि एक चतुर्युगी 43,20,000 वर्ष की होती है (कलियुग 4,32,000, द्वापर 8,64,000, त्रेता 12,96,000, सतयुग 17,28,000 वर्ष)। ऐसी एक हजार चतुर्युगी बीतने पर महाप्रलय हो जाती है। श्लोक के अनुसार महाप्रलय के पश्चात् जब पुनः जीवों की या संसार की सृष्टि होती है तब भी पूर्व जन्मों के पाप व पुण्य जीव के साथ लगे होते हैं।

गीता के अनुसार मनुष्य किसी भी काल में बिना कर्म किये नहीं रह सकता (3/5 तथा 18/12)। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य हर समय डर डर कर जीता रहे कि कहीं उससे कोई पाप कर्म न हो

जाये। सम्भवत: यही कारण रहा होगा कि अर्जुन जैसा महान योद्धा भी युद्ध के मैदान में विषाद को प्राप्त हो गया। सहसा अर्जुन के मन में विचार आता है कि मैं स्वयं ही अपने कुल, सगे-सम्बन्धियों व मित्रों के विनाश का कारण बनने जा रहा हूँ जो अवश्य ही मुझे अनिश्चित काल तक नरक में धकेलने के लिये पर्याप्त है। यहाँ भगवान् को लगा कि अर्जुन एक प्रबुद्ध समाज का प्रतिनिधित्व कर रहा है। एक साधारण व्यक्ति भी समाज में फैले अन्धविश्वास और भ्रान्तियों के चलते पाप और पुण्य की सही परिभाषा से अनभिज्ञ होने के कारण धर्म को अधर्म समझ बैठता है। यही कारण रहा होगा कि युद्ध के मैदान में ही अर्जुन को निमित्त बनाकर भगवान् ने मनुष्य मात्र को ज्ञानोपदेश करना आवश्यक समझा।

अर्जुन का ज्ञान दो बातों पर आधारित था – एक तो वह स्वयं को मारने वाला समझ रहा था, दूसरा धर्म-अधर्म की गलत परिभाषा। भगवान् ने दोनों का स्पष्टीकरण किया। मूल बात तो दूसरे ही अध्याय में समझा दी कि आत्मा अमर है, न वह मरता है और न कोई इसे मार सकता है, मरता है केवल शरीर। दूसरी बात थी पाप से कैसे बचें। इस बात को समझाने में भगवान् को पर्याप्त संघर्ष करना पड़ा। अर्जुन के अनेक प्रश्नों का उत्तर देना पड़ा।

पहले समझाया कि देख जो तू सब कुछ छोड़ कर भिक्षा का अन्न खाने की बात करता है, इसमें भी पाप से नहीं बचेगा क्योंकि सभी कर्म इसी प्रकार दोष से युक्त हैं जैसे अग्नि धुएं से। दूसरी बात – कर्तव्य कर्म करने से पाप का भागी नहीं होना पड़ता। समाज में स्वाभाविक कर्मों के आधार पर सभी के कर्तव्य निश्चित हैं। उन कर्तव्यों की परिधि में रहकर सभी को कार्य करने आवश्यक हैं। कर्मों को छोड़ने से तो सृष्टि नहीं चलेगी। फिर भी यदि तुझे लगता है कि पाप तो लगेगा तो उसका उपाय है फलासक्ति को त्याग कर कर्म कर, सब कर्मों को भगवान् के अर्पण करता चल। इस बात को गीता में कई स्थानों पर अलग-अलग शब्दों में कहा गया है।

सबसे पहले कहा 'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख दु:ख को समान समझकर युद्ध के लिये तैयार हो जा। इस प्रकार तू पाप को नहीं प्राप्त होगा – **नैवं पापमवाप्स्यसि** (2/38)।' फिर कहा – मुझ अन्तर्यामी परमात्मा में लगे हुए चित्त द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को मुझ में अर्पण करके आशा रहित, ममता रहित और सन्ताप रहित होकर युद्ध कर (3/30)। आगे तीसरे अध्याय के 51वें श्लोक में कहा – समबुद्धि से युक्त ज्ञानीजन कर्मों के फल को त्यागकर जन्मरूप बन्धन से मुक्त हो निर्विकार परमपद को प्राप्त हो जाते हैं।

चौथे अध्याय के 22वें श्लोक में थोड़ा और विस्तार से बताया है – जो बिना इच्छा के अपने आप प्राप्त हुए पदार्थ से सदा सन्तुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्या का सर्वथा अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों से अतीत हो गया है – ऐसा सिद्धि और असिद्धि में सम रहने वाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे नहीं बँधता – **'कृत्वापि न निबध्यते'**। चौथे अध्याय के ही 41वें श्लोक में एक और विधि बतलाई – हे धनंजय! जिसने कर्मयोग की विधि से समस्त कर्मों को परमात्मा में अर्पण कर दिया है – **'योगसन्न्यस्तकर्माणं'** और जिसने विवेक द्वारा समस्त संशयों का नाश कर दिया है – **'ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्'** ऐसे वश में किये हुए अन्त:करण वाले पुरुष को कर्म नहीं बाँधते। दूसरे अध्याय के 50वें श्लोक में कहा है – **'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते'** – अर्थात् समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनों को इसी लोक में त्याग देता है। अगले श्लोक में फिर कहा – समबुद्धि से युक्त ज्ञानीजन कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्यागकर **(कर्मजं फलं त्यक्त्वा)**, जन्मरूप बन्धन से मुक्त हो निर्विकार परम पद को प्राप्त हो जाते हैं।

पाँचवे अध्याय के 7वें श्लोक में आता है – **'सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते'** – सम्पूर्ण प्राणियों का आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता। पाँचवे अध्याय के ही 10वें श्लोक में कहा है – **पद्मपत्रमिवाम्भसा** – जल से कमल के पत्ते की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता। इसी

भाव के अन्य श्लोक भी हैं जैसे 9/28, 12/10, 13/23, 16/22, 18/12, 18/17, 18/45-46। फिर अन्त में 18वें अध्याय के 66वें श्लोक में तो भगवान् ने अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा सुनाकर अर्जुन को भयमुक्त कर दिया – **अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः**। रामचरित मानस में भी ऐसी ही बात कही गई है –

सन्मुख होइ जीव मोहि जबही।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबही॥

सारांश यह है कि पाप से डरकर कर्म छोड़ना श्रेयस्कर नहीं है, अपितु कर्तव्यकर्म को पहचान कर, कर्तापन के भाव से मुक्त होकर, कर्मफल की आकांक्षा से रहित होकर, सब कर्मों को ईश्वर के अर्पण करते हुए कर्मयोगी ईश्वर को प्राप्त कर सकता है।

❖ ❖ ❖

अनन्य भक्ति

गीता में भगवान् ने ईश्वर प्राप्ति के तीन मार्ग बतलाये हैं – कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग। इनमें से किसी भी मार्ग पर चलकर व्यक्ति परमपद प्राप्त कर सकता है। परन्तु साधक प्रायः एक मार्ग का चयन करने में स्वयं को असमर्थ पाता है। ऐसी परिस्थिति में गीता व रामायण दोनों ही सहायक सिद्ध होते हैं।

गीता के 11वें अध्याय में विश्वरूप दर्शन कराने के पश्चात् अन्त में भगवान् कहते हैं – हे अर्जुन, जो पुरुष केवल मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को करने वाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, वैर-भाव से रहित है वह पुरुष मुझको प्राप्त होता है (11/55)। 'मेरा भक्त' अर्थात् सगुण-साकार रूप में मेरी पूजा करने वाला। यही भक्ति योग है। पहले के अध्यायों में भगवान् कर्म योग व ज्ञान योग की उपयोगिता पर बल देते रहे हैं। अतः बारहवें अध्याय के पहले श्लोक में अर्जुन प्रश्न करता है कि भगवन् आप को जो सगुण रूप से भजते हैं वे श्रेष्ठ हैं अथवा जो अविनाशी सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म की उपासना करते हैं वे श्रेष्ठ हैं। इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि दोनों प्रकार के भक्त उत्तम हैं किन्तु निराकार ब्रह्म में आसक्त चित्त वाले पुरुषों के साधन में परिश्रम अधिक है –

क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्। (12/5)

यहाँ निराकार ब्रह्म की भक्ति का अर्थ ज्ञानयोग समझना चाहिये तथा सगुण-साकार भक्ति का तात्पर्य भक्ति योग। आगे श्लोक 12/7 में भगवान् कहते हैं – मुझमें चित्त लगाने वाले प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही (नचिरात्) मृत्यु रूप संसार समुद्र से उद्धार करने वाला होता हूँ।

यही बात गोस्वामी तुलसीदास ने मानस में दोहराई है –

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा।
जोग न मख जप तप उपवासा॥

(मानस उ०का० 46.1)

जबकि ज्ञान मार्ग दुर्गम है। उस मार्ग में अनेकों विघ्न हैं –

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका।
साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ।
भक्ति हीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥

(मानस उ०का० 45.3,4)

वैसे भी भक्ति मार्ग के नियम कड़े नहीं हैं। केवल भगवान् के नाम का जाप करना है जो किसी भी अवस्था में निषिद्ध नहीं है – खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते समय, बिस्तर में बैठकर, लेट कर, चलते समय – अर्थात् न समय का बन्धन है न स्थिति का।

यहाँ साधक के मन में प्रश्न उठता है कि भक्ति करें किस की? भगवान् प्रत्यक्ष तो दिखता नहीं है। जब अपने उपास्य देव को देखा ही नहीं तो किस प्रकार उसके रूप को मन में धारण करें। इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि सेवा व प्रेम भक्ति के ही रूप हैं। किन्तु किसकी सेवा? किससे प्रेम? उत्तर है – मानव मात्र की, जीव मात्र की, क्योंकि ईश्वर का वास सबके हृदय में है। गीता के अनेक श्लोकों में यह बताया गया है –

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। (10/20)

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्। (13/17)

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (15/7)

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो। (15/15)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। (18/61)

गोस्वामी जी भी मानस में यही कहते हैं –

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
सीय राममय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(मानस बालकाण्ड दोहा 185.5)

रामचरित मानस तो भक्ति से लबालब भरा है। भक्ति मार्ग के साधक को तो रामचरित मानस का नित्य पाठ करना चाहिये।

गोस्वामी जी ने अनेक पात्रों के मुख से भक्ति का वर्णन करवाया है। उत्तरकाण्ड में वशिष्ठ जी कहते हैं –

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥
दच्छ सकल लच्छन जुत सोई।
जाकें पद सरोज रति होई॥
नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥

भक्ति की साधना करने से स्वयं शिवजी महाराज भी नहीं चूकते।

दो. **बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्री रंग।**
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥

काकभुशुण्डि जी ने पूरी रामायण गरुड़ जी को सुनाई। अन्त में भक्ति के विषय में अपना मत प्रकट करते हुए कहते हैं –

रामचन्द्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥

चौ. **ऐसेहिं हरि बिनु भजन खगेसा।**
मिटइ न जीवन केर कलेसा॥
हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या।
प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या॥
भगति हीन गुन सब सुख ऐसे।
लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥
भजन हीन सुख कवने काजा।
अस बिचारि बोलेउँ खगराजा॥

दो. **भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपा सिंधु सुख धाम।**
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥

इस प्रकार जब काकभुशुण्डि ने संसार की सब सुख सुविधाओं को दरकिनार कर केवल भक्ति का वरदान माँगा तो भगवान् राम भी उसके विवेक की प्रशंसा किये बिना नहीं रह पाये तथा स्वयं भक्ति के महत्व की पुष्टि करते हुए कहते हैं –

सब सुख खानि भगति तैं मागी।
नहिं जग कोउ तोहि सम बड़भागी॥
जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं।
जे जप जोग अनल तन दहहीं॥
रीझेऊँ देखि तोरि चतुराई।
मागेहु भगति मोहि अति भाई॥

दो. **मोहि भगत प्रिय संतत अस बिचारि सुनु काग।**
कायँ बचन मन मम पर करेसु अचल अनुराग॥

चौ. अब सुनु परम बिमल मम बानी।
सत्य सुगम निगमादि बखानी॥
निज सिद्धांत सुनावउँ तोही।
सुनु मन धरु सब तजि भजु मोही॥
मम माया संभव संसारा।
जीव चराचर बिबिध प्रकारा॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाए।
सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी।
तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ज्ञानी।
ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा।
जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं।
मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥
भगति हीन बिरंचि किन होई।
सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी।
मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥
अखिल बिस्व यह मोर उपाया।
सब पर मोहि बराबरि दाया॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया।
भजै मोहि मन बच अरु काया॥

दो. **पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।**
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

सो. **सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।**
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब॥

इस प्रकार के प्रसंगों से सम्पूर्ण उत्तरकाण्ड तो ओतप्रोत है ही, शेष रामायण में भी कहीं शबरी ने, कहीं भरत ने, कहीं अत्रि मुनि ने, कहीं अगस्त्य मुनि ने, कहीं बाल्मीकि ने, कहीं विभीषण ने, कहीं हनुमान जी ने तथा अन्य जितने भी पात्र हैं लगभग सभी ने श्रीराम की भक्ति की महिमा का गान किया है। हनुमान जी सुन्दरकाण्ड में भक्ति की याचना करते हुए कहते हैं –

नाथ भगति अति सुखदायनी।
देहु कृपा करि अनपायनी॥

विभीषण कहते हैं –

अब कृपाल निज भगति पावनी।
देहु सदा सिव मनभावनी॥

सुग्रीव भी भगवान् की कृपा मांगते हैं भक्ति के रूप में –

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती।
सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

सच है भक्ति भी करनी हो तो भगवान् की कृपा के बिना सम्भव नहीं॥

हाँ तो बात चल रही थी कि भगवान् को देखा नहीं तो भक्ति किस रूप में करें। ऊपर बताया जा चुका है कि भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं। गीता में भी कहा गया है –

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। (6/30)

इस सिद्धान्त के अनुसार मानव सेवा ही ईश्वर सेवा है। जितने भी अनाथ बालक, दीन, दुर्बल, असहाय, अपंग, रोगी, साधनहीन व्यक्ति हैं सब भगवान् के ही रूप हैं। किसी की भी सेवा की जा सकती है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त कहते हैं –

मैं ढूँढता तुझे था जब कुंज और वन में।
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में॥

माँ, बाप, गुरु, अतिथि भी भगवान् के ही रूप हैं। उपर्युक्त विश्लेषण से लगता है कि भक्ति बहुत ही सरल है। निस्सन्देह है भी। किन्तु कुछ नियम तो यहाँ भी लागू होते हैं। ऐसा नहीं है कि भक्त है तो मनमाना आचरण करे। गीता के 12वें अध्याय में बताया गया है कि भगवान् को वही भक्त प्रिय है जो सब प्राणियों में द्वेषभाव से रहित हो, स्वार्थ रहित सबका प्रेमी, दयालु, मोह-ममता से रहित, सुख-दुःख में सम, क्षमावान, योगी, उद्वेग रहित, निरन्तर सन्तुष्ट, इन्द्रियों को वश में रखने वाला, दृढ़ निश्चयी, भगवान् में मन, बुद्धि को अर्पण किये हुए, हर्ष-अमर्ष आदि से रहित, आकाँक्षा से रहित, बाहर-भीतर से शुद्ध, उदासीन, शत्रु-मित्र, मान-अपमान में सम, सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों में सम तथा मननशील है।

इसी प्रकार मानस (उत्तरकाण्ड) में भी कहा है –

सरल सुभाव न मन कुटिलाई।
जथा लाभ संतोष सदाई॥
मोर दास कहाइ नर आसा।
करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा।
सुखमय ताहि सदा सब आसा॥

अनारंभ अनिकेत अमानी।
अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा।
तृन सम विषय स्वर्ग अपबर्गा॥

दो. **मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।**
ता कर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥

अरण्यकाण्ड में भी भगवान् राम ने स्वयं लक्ष्मण को भक्ति के साधन समझाये हैं –

भगति कि साधन कहउँ बखानी।
सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती।
निज निज कर्म निरत श्रुति नीती॥

अर्थात् भक्ति के लिये वर्ण और आश्रम के अनुसार अपने कर्तव्य करने भी आवश्यक हैं। यहाँ कर्मयोग पर आधारित भक्तियोग की बात कही गई है। और भी शर्तें हैं भक्तियोग की –

संत चरन पंकज अति प्रेमा।
मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा।
सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा।
गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके।
तात निरंतर बस मैं ताकें॥

दो. **बचन कर्म मन मोरि गति भजन करहिं निःकाम।**
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा विश्राम॥

अब भक्ति की सबसे महत्वपूर्ण शर्त – अनन्य भक्ति। वास्तविक भक्त वह होता है जो केवल एक अखण्ड, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, सम्पूर्ण लोकों के एकमात्र स्वामी, सबके कर्ता, भर्ता, संहर्ता, पुरुषोत्तम भगवान् का ही भक्त है – किसी अन्य का नहीं। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री का एक ही पति होता है, दूसरा पति होने से उसे व्यभिचारिणी कहा जाता है, उसी प्रकार केवल एक भगवान् में ही निष्ठा होनी आवश्यक है। ऐसी भक्ति को गीता में अव्यभिचारिणी भक्ति कहा गया है।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी (13/10)

तथा

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। (14/26)

जो लोग विभिन्न देवताओं की उपासना करते हैं उनको इच्छित भोगों की प्राप्ति तो हो जाती है किन्तु भगवान् की प्राप्ति करने के लिये एकमात्र भगवान् की ही उपासना करनी होगी वह भी कामनारहित होकर (गीता 7/22, 23)। आवश्यकताओं की पूर्ति तो भगवान् स्वयं ही कर देते हैं अपने अनन्य भक्तों की –

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(9/22)

अनन्य भक्ति का महत्व मानस में स्वयं भगवान् राम ने अपने मुख से कहा है –

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा।
पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा।
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

मानस में ही अगस्त्य मुनि के सुजान शिष्य सुतीक्ष्ण भगवान् की दयालुता पर गदगद होकर कहते हैं –

एक बानि करुणानिधान की।
सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

गुरुदेव स्वामी रामानन्द जी महाराज ने भी अनन्यता की आवश्यकता पर बल दिया है। आध्यात्मिक साधन-2 में पृष्ठ 11 पर गुरुदेव लिखते हैं –

''श्रद्धा के बल का क्षय होता है अनन्यता के अभाव से। आत्मा की शक्ति जितनी भी धाराओं में बह जायेगी उतनी पतली पड़ जायेगी। अत: श्रद्धा को सब ओर से समेट कर मातृ-चरणों में प्रेरित करना होगा।''

अनन्य भक्ति का वर्णन अन्यत्र भी मिलता है। भक्त मीराबाई ने एक ही रट लगाई थी –

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।

गोस्वामी तुलसीदास ने वृन्दावन जाकर कह दिया –

कहा कहौं छबि आपकी भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवे धनुष बान लें हाथ॥

अर्थात् मैं तो केवल राम को ही भगवान् मानता हूँ। भक्त कबीर ने भी कहा है –

एकै साधै सब सधै सब साधै सब जाय।

गुरु नानक देव का उपदेश था –

एक ओंकार। सतनाम वाहेगुरु।

यही कारण है कि समूचा सिक्ख समुदाय केवल गुरु ग्रन्थ साहिब को ही गुरु या भगवान् मानता है।

हिन्दू समाज भी अपनी प्रार्थना में प्रायः दोहराता है –

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बंधुश्च च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

अर्थात् माता पिता बन्धु सखा, देव, सभी कुछ एक तुम्हीं हो।

गीता में अनन्यता के सन्दर्भ में श्लोक संख्या 7/22, 23 व 9/22 की चर्चा ऊपर हो चुकी है। इसके अतिरिक्त भी अनेक श्लोकों में भगवान् ने अनन्य भक्ति का गुणगान किया है। आठवें अध्याय के 14वें श्लोक में भगवान् ने कहा है कि जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर निरन्तर मेरा स्मरण करता है उसके लिये मुझे प्राप्त करना सुलभ है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(8/14)

सातवें अध्याय के 14वें श्लोक में भगवान् ने दुस्तर माया का उल्लंघन करने का उपाय अनन्य भक्ति बतलाया है –

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

सातवें अध्याय के श्लोक 16 व 17 में भगवान् कहते हैं कि मुझे चार प्रकार के भक्तजन भजते हैं – अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु तथा ज्ञानी। वे सभी मुझे प्रिय हैं परन्तु उनमें से ज्ञानी भक्त सर्वाधिक प्रिय है। लेकिन ज्ञानियों में भी अनन्य प्रेमभक्ति वाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है –

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।

नौवें अध्याय के 30वें श्लोक में यहाँ तक कह दिया कि यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाव से मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है –

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

आदिकवि ऋषि बाल्मीकि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। भगवान् अनन्य भक्ति के कितने बड़े पक्षधर हैं यह इस तथ्य से और भी स्पष्ट हो जाता है कि जो बात नौवें अध्याय के 34वें श्लोक में कही गई है उसी बात को उन्हीं शब्दों में 18वें अध्याय के 65वें श्लोक में दोहराया गया है। इतना ही नहीं, दोहराने से पूर्व अपने इस वचन को सम्पूर्ण गोपनीयों से अति गोपनीय (सर्वगुह्यतमं), परम रहस्ययुक्त (परमम्), परम हितकारक (हितम्) आदि विशेषणों से भी सुशोभित किया है और वह वचन है –

मन्मना भव – मुझमें मन वाला हो, मदभक्तः (मेरा भक्त बन), मद्याजी (मेरा पूजन कर), माम् नमस्कुरु (मुझको प्रणाम कर), युक्त्वा आत्मानम् (आत्मा को मुझमें नियुक्त कर), मत्परायणः (मेरे परायण हो), ऐसा करने से तू मुझे ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है – यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है।

18वें अध्याय के 66वें श्लोक में तो यहाँ तक कह दिया कि सारे धर्मों को अर्थात् तर्क वितर्कों को छोड़कर तू केवल एक मेरी

शरण में आ जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर –

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

इस प्रकार अर्जुन के माध्यम से भगवान् कृष्ण ने सम्पूर्ण मानव-जाति को अर्थपूर्ण जीवन जीने का मन्त्र दे दिया। इसीलिये स्वयं वेदव्यास ने कहा है –

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥

अर्थात् एक ही शास्त्र है जिसका नाम गीता है एक ही देव है जिसका नाम कृष्ण है, एक ही मन्त्र है – भगवन्नाम तथा एक ही कर्म है – उसकी सेवा।

❖ ❖ ❖

श्रद्धा और विश्वास

''विश्वास मस्तिष्क का होता है। युक्तियों से उसकी स्थापना होती है और युक्तियों से बना भवन युक्तियों द्वारा ही ढेर हो जाता है। श्रद्धा विश्वास से बहुत ऊँची चीज है। आत्मा के निजी स्तर में इसकी जड़ें रहती हैं। यह बुद्धि और हृदय दोनों का समावेश करती हुई उनका अतिक्रमण करती है। श्रद्धा में विचार भी रहता है और भाव भी, परन्तु यह न मस्तिष्क के चेरी है न हृदय की। श्रद्धा आत्मा की चीज़ है, केवल मात्र युक्तियाँ उसे उत्पन्न नहीं कर सकतीं। विश्वास के अतिरिक्त उसमें दो और अंश रहते हैं - प्रीति और आदर। श्रद्धा आन्तर योग की आधारशिला है। इसके सिवा न हरिकृपा की प्रतीति सम्भव है, न महाशक्ति के प्रभाव की प्रेरणा। श्रद्धा एक निधि है।''

स्वामी रामानन्द जी महाराज की उक्त पंक्तियों में श्रद्धा और विश्वास की पूर्ण परिभाषा समाविष्ट है। किन्तु यह परिभाषा एक शोध के विद्यार्थी की भाषा है। इसके आशय को समझने के लिये हमें थोड़ा और गहराई से विश्लेषण करना होगा। विश्वास की स्थापना युक्तियों से होती है - इसका अर्थ है कि किसी व्यक्ति या उक्ति का विश्वास करने या न करने का कोई कारण होता है। मान लीजिये कोई व्यक्ति प्रायः असत्य भाषण करता है, अथवा उसकी बातों में बनावटपने या अतिशयोक्ति की बू आती है, तो उसकी बातों पर सहजता से विश्वास नहीं किया जा सकता - यह तर्कसंगत है। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति सदा सत्य भाषण करता है तो उसके असत्य को भी सत्य मान लिया जाता है। महाभारत की कथा में युधिष्ठिर के द्वारा अश्वत्थामा के बारे में बोला गया झूठ सच मान लिया गया था, युक्ति के आधार पर।

कहते हैं विश्वास पर ही दुनिया चलती है। सच ही है। हम टिकट खरीद कर स्टेशन पर पहुँचते हैं तो इस विश्वास के साथ कि ट्रेन समय पर आएगी और हमारी सीट भी खाली मिलेगी। उसी प्रकार कोई भी वस्तु अथवा सेवा खरीदते हैं तो एक कार्य पहले होता है और दूसरा बाद में - विश्वास के आधार पर। कर्मचारी पूरे माह काम करता है इस विश्वास पर कि महीने के अन्त में वेतन मिल ही जायेगा क्योंकि अभी तक ऐसा ही होता रहा है। परन्तु श्रद्धा के बिना दुनिया चल सकती है। यह एक व्यक्तिगत गुण या विशेषता है। एक व्यक्ति की श्रद्धा अपनी माता में है, दूसरे की पिता में, तीसरे की गुरु में, तथा किसी अन्य की पत्थर की मूर्ति में; किसी की गीता में, किसी की रामायण अथवा अन्य किसी ग्रन्थ में - यह अपने निजी भाव पर आधारित है।

श्रद्धा के विषय में श्री गुरु महाराज ने कहा है कि इसके बिना हरिकृपा की प्रतीति असम्भव है। गोस्वामी तुलसीदास ने महान ग्रन्थ रामचरितमानस की रचना करते समय आरम्भ में ही लिख दिया - श्रद्धा और विश्वास के स्वरूप श्री पार्वती जी और श्री शंकर जी की मैं वन्दना करता हूँ जिनके बिना सिद्धजन अपने अन्तःकरण में स्थित ईश्वर को नहीं देख सकते। अर्थात् ईश्वर तो सर्वव्यापी हैं, सबके हृदय में स्थित हैं किन्तु श्रद्धा और विश्वास के आधार पर उसका दर्शन हो सकता है। यह बात रामचरितमानस में अनेक स्थानों पर दोहराई गई है। शंकर भगवान के मुख से भी कहलवाया -

हरि ब्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

पुनः गुरु महाराज ने कहा है - श्रद्धा विश्वास से बहुत ऊँची चीज है। इसका अर्थ है श्रद्धा में विश्वास तो निहित ही है। बिना विश्वास के श्रद्धा के स्तर तक नहीं पहुँच सकते। अरण्यकाण्ड में भगवान् राम स्वयं नारद के प्रति कहते हैं -

अस बिस्वास तजहु जनि भोरें - 3/41/5

उत्तरकाण्ड में काकभुसुण्डि कहते हैं -

श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई

तथा

'बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु'।

7/9/क

स्वामी जी ने जो कहा है कि श्रद्धा आन्तरयोग की आधारशिला है, इसकी पुष्टि गीता में अनेक स्थानों पर की गई है -

1. अध्याय 3 श्लोक 31 - **श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो।**
2. अध्याय 4 श्लोक 39 - **श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं** - श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है।
3. अध्याय 4 श्लोक 40 - **अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च सशंयात्मा विनश्यति** - विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है।
4. अध्याय 6 श्लोक 47 - **श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः** - जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मा से मुझको भजता है वह मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।
5. अध्याय 7 श्लोक 21 व 22 - इन दो श्लोकों में तीन बार श्रद्धा शब्द का प्रयोग करते हुए बताया गया है कि कोई भी पूजा श्रद्धा के बिना अधूरी है।
6. अध्याय 12 श्लोक 2 - **श्रद्धयापरयोपेतास्ते** - जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त होकर मुझे भजते हैं।
7. अध्याय 12 श्लोक 20 - **श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।**

गीता के अध्याय 17 का तो नाम ही 'श्रद्धात्रयविभाग योग' है। इस अध्याय के आरम्भ में तो यहाँ तक कह दिया गया कि 'जो

पुरुष जैसी श्रद्धा वाला है वह स्वयं भी वही है' (श्लोक 3)। क्योंकि सभी मनुष्य अपनी- अपनी श्रद्धा के अनुसार देवों को, यक्ष और राक्षसों को अथवा भूतगणों को पूजते हैं (श्लोक 4)। अर्थात् श्रद्धा के आधार पर ही सात्त्विक, राजसी व तामसी प्रकृतियों का विभाजन होता है। भोजन, यज्ञ, तप, दान आदि सभी कर्म श्रद्धा के अनुसार ही सात्त्विक, राजसी अथवा तामसिक श्रेणी में आते हैं। अन्तिम श्लोक में तो भगवान् ने श्रद्धा के बारे में अन्तिम निर्णय भी सुना दिया - ''हे अर्जुन बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म है वह समस्त 'असत्' कहा जाता है तथा ऐसा कर्म न तो इस लोक में लाभदायक है और न मरने के बाद ही।''

दान की महिमा

दान की महिमा सभी महत्वपूर्ण ग्रन्थों में गाई गई है – श्रीमद्भागवत में, भगवद्गीता में तथा रामायण में। भागवत के आरम्भ में ही कथा आती है कि राजा परीक्षित ने देखा कि बैल का रूप धारण किये हुए धर्म के कलियुग रूपी राक्षस ने तीन पग तोड़ डाले हैं – सत्य, शौच व दया। केवल एक पग – दान बचा हुआ है। अर्थात् कलियुग केवल दान के आधार पर टिका हुआ है। रामायण में तो अनेकों स्थानों पर दान की महिमा बताई गई है। राम जन्म पर दान, राम विवाह पर दान, राजतिलक पर दान (जाचक सभी अजाचक कीन्हे)। गीता में 16वें अध्याय के पहले ही श्लोक में दैवी सम्पदा के लक्षणों में दान भी एक लक्षण बताया गया है। **'दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्'**। 18वें अध्याय के 5वें श्लोक में बताया गया है कि यज्ञ, दान और तप रूप कर्म त्याग करने के योग्य नहीं हैं बल्कि वह तो अवश्य करणीय हैं क्योंकि ये तीनों कर्म बुद्धिमान पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं।

यदि हम आधुनिक युग के परिपेक्ष्य में देखें तो पता लगेगा कि अधिकांश लोग तो दान के महत्व से पूर्णतः अनभिज्ञ हैं और बहुत से लोग ऐसे हैं जो दान न करने के अपने निर्णय को न्यायसंगत सिद्ध करते रहते हैं, जैसे कि 'हमारे पास तो इतना है ही नहीं कि दान करें ' अथवा 'सही दान लेने के पात्र ही नहीं मिलते' या 'दान देकर लोगों को आलसी क्यों बनायें' आदि आदि।

फिर भी कतिपय लोग ऐसे भी हैं जो वास्तव में दान करते हैं किन्तु वह निष्काम नहीं होता। गीता में लिखा है – जो दान प्रत्युपकार के प्रयोजन से अथवा फल को दृष्टि में रखकर दिया जाता है वह राजस दान कहलाता है सात्विक नहीं (गीता 17/21)।

दान देकर यह आशा करना कि इसका कई गुणा हमें वापस मिल जायगा, अथवा दान लेने वाला दानी का गुणगान करे, एहसान माने या दानी का नाम हो, यश बढ़े आदि, ये सब राजसी दान की श्रेणी में आते हैं। शास्त्रों में लिखा है कि दान गुप्त होना चाहिये, इतना कि दायें हाथ से किये गये दान को बाँया हाथ भी न जान पाए। किन्तु होता इसके विपरीत है। अधिकांश लोग तो अपने दिये गये दान का वर्णन करते नहीं थकते।

कुछ लोग तो दूसरों को दान देते देखकर अपनी झेंप मिटाने के लिये दान के अवगुण बखारने लगते हैं और दूसरों को निरुत्साहित करते हैं, स्वयं दान देना तो दूर रहा। ऐसे लोग तो गीता के 16वें अध्याय के श्लोक 18, 19 के अनुसार नरक के ही अधिकारी होते हैं।

दान देने वालों की एक श्रेणी ऐसी भी है जो एक बार दान देकर आयुपर्यन्त उसका लाभ उठाना चाहते हैं यहाँ तक कि अपने पूर्वजों के किये हुए दान के फल पर भी अपना अधिकार रखते हैं। इसका उदाहरण है ऐसे लोग जिनका अपना अथवा पूर्वजों का नाम तीर्थस्थानों, धर्मशालाओं, मंदिरों आदि में बनाये गये कमरों पर लिखा होता है। ये लोग अपना नाता उस स्थान से जोड़ कर रखते हैं जो 'दान' किया जा चुका होता है। भले ही दान करने वाले व्यक्ति की ऐसी भावना न रही हो किन्तु उसके उत्तराधिकारी उस स्थान का प्रयोग ही नहीं, दुष्प्रयोग तक करते हैं। यदि ठहरने की बात होगी तो उसी कमरे में ठहरेंगे, चाहे किसी अन्य व्यक्ति को निकालना पड़े। ऐसा दान तो वास्तव में दान ही नहीं है, यह तो सौदा है।

दान दी गई वस्तु से नाता जोड़कर रखने का अर्थ है आसक्ति, और आसक्ति ही तो बन्धन का कारण होती है। हमारे गुरु महाराज स्वामी रामानन्द जी ने गीता विमर्श में समझाया भी है कि सभी कर्म बन्धन-कारक होते हैं यदि उनमें कर्तापन का भाव हो। अशुभ कर्म

लोहे की जंजीर हैं तो शुभ कर्म सोने की। सर्वोत्तम स्थिति तो यह होती है कि दी गई वस्तु को अपनी न समझकर भगवान् की समझें और दान लेने वाले को भगवान् का रूप।

❖ ❖ ❖

मम पन सरनागत भयहारी

गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानस के सुन्दरकाण्ड में शरणागति का महत्व समझाते हुए स्वयं भगवान् श्री रामचन्द्र कहते हैं –

मम पन सरनागत भयहारी

तथा

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू।
आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

इसी आशय का श्लोक 66 श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय 18 में भगवान् श्री कृष्ण के द्वारा अर्जुन के प्रति कहा गया है –

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

उपरोक्त श्लोक भगवान् के द्वारा अर्जुन को दिया गया अन्तिम उपदेश तथा आदेश है। साथ ही यह श्लोक गीता का मुख्य श्लोक भी है। इसको गीता का सार भी कहा जा सकता है क्योंकि इसमें भगवान् कहते हैं – सारे धर्मों को त्यागकर मेरी शरण में आ जा। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा।

एक साधारण मनुष्य जिज्ञासा कर सकता है कि यदि इतने भर से सब पापों से मुक्ति मिल जाय तो यह तो बहुत ही आसान काम है। परन्तु वास्तव में यह काम इतना आसान नहीं है। पहले भी

श्रीमद्भगवद्गीता के आठवें अध्याय के 5वें श्लोक में इसी प्रकार का उपाय बता चुके हैं –

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

अर्थात् जो मनुष्य अन्तकाल में भी भगवान् को स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है वह भगवान् को प्राप्त कर लेता है। वास्तविकता यह है कि इस स्थिति को प्राप्त करने में पूरा जीवन तो क्या, कई जन्म लग जाते हैं। जब तक मनुष्य भगवान् को जानता नहीं है, तब तक वह न तो स्मरण ही करता है, न उसकी शरण में आता है। वस्तुतः मानव स्वयं के बनाये हुए जाल में इस तरह फँसा हुआ है कि उसे भगवान् को जानने की न तो आवश्यकता लगती है और न उसके पास समय ही है। श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय 7 के श्लोक 3 में भगवान् ने स्वयं ही कहा है –

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

अर्थात् हजारों मनुष्यों में कोई एक मेरी प्राप्ति के लिये यत्न करता है और उन यत्न करने वाले योगियों में भी कोई एक मुझको तत्व रूप से जान पाता है।

इस विषय पर थोड़ा और गहराई से विचार करने की आवश्यकता है। यदि भगवान् का प्राप्त करना अथवा पापों से मुक्त होना इतना ही सरल होता तो यही बात भगवान् ने अर्जुन को आरम्भ में ही कह दी होती, इसके लिये 18 अध्यायों के माध्यम से 18 योगों की व्याख्या करने की क्या आवश्यकता थी। भगवान् जानते थे कि जब तक अर्जुन को भगवान् के स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा, वह शरणागत नहीं हो सकेगा।

यही बात रामचरितमानस में भी चरितार्थ होती है। भगवान् जानते थे कि विभीषण अपना सब कुछ त्यागकर शरण में आया है –

जननी जनक बंधु सुत दारा।
तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी।
मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

सब कुछ (सांसारिक) त्याग कर ही शरणागत हुआ जाता है। यूँ तो सुग्रीव ने भी कह दिया था:-

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती।
सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

परन्तु कथनी व करनी में अन्तर होता है – बाद में स्वयं कहता है –

नाथ बिषय सम मद कछु नाहीं।
मुनि मन मोह करइ छन माहीं॥

सारांश यह है कि भगवान् शरण में उसी को लेते हैं जो संसार और विषयों का मोह छोड़कर उनकी विशुद्ध भक्ति करता है।

❖ ❖ ❖

तस्माद्योगी भवार्जुन

गीता के अध्याय 6 के श्लोक 46 में भगवान् अर्जुन को स्पष्ट आदेश देते हुए कहते हैं – 'इससे हे अर्जुन! तू योगी हो।' इसका कारण भी समझाया – क्योंकि योगी तपस्वियों में श्रेष्ठ है, योगी शास्त्रज्ञानियों में भी श्रेष्ठ है तथा सकाम कर्म करने वालों में भी श्रेष्ठ है। योगी अर्थात् योग को अपनाने वाला, योग को धारण करने वाला, योग का अभ्यास करने वाला, योग के मार्ग पर चलने वाला। तो फिर योग क्या है?

योग शब्द का प्रयोग गीता में इतनी बहुलता से किया गया है कि इसका अर्थ जानना ही कठिन हो जाता है। जहाँ सभी 18 अध्यायों को किसी न किसी योग का नाम दिया गया है वहीं अध्याय 13 श्लोक 24 में ध्यानयोग, ज्ञानयोग अथवा कर्मयोग के द्वारा ही परमात्मा की प्राप्ति का साधन बतलाया गया है। इससे पूर्व अध्याय 2 के श्लोक 39 में भी कहा गया है कि 'यह बुद्धि ज्ञानयोग के विषय में कही गई, अब कर्मयोग के विषय में सुन।' फिर कहा गया – **'योगस्थ कुरु कर्माणि'**। अर्थात् वहाँ भी योग में स्थित होने का आदेश दिया गया है। वास्तव में अध्याय 2 के श्लोक 48 में ही योग को परिभाषित करते हुए बतलाया गया है कि – समत्व ही योग है। इसीलिये कहा गया था – सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयो। इसके बाद तो सम्पूर्ण गीता में समत्व स्थिति को प्राप्त करने के उपाय बतलाये गये हैं। दूसरे ही अध्याय में स्थितप्रज्ञ के लक्षण भी समता का प्रतिपादन करते प्रतीत होते हैं।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

(2/56)

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(2/57)

अध्याय 4 के श्लोक 22 में कहा गया है कि –

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥

इसके उपरान्त अध्याय 5 के श्लोक 18 में कहा गया है कि –

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

तथा

येषां साम्ये स्थितं मनः।

अध्याय 5 के श्लोक 19 में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि जिसका मन समभाव में स्थित है उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है क्योंकि परमात्मा निर्दोष और सम है, तो समभाव में स्थित व्यक्ति भी परमात्मा में ही स्थित है।

अब प्रश्न उठता है कि इस योग की प्राप्ति कैसे हो। इस सम्बन्ध में अध्याय 6 के श्लोक 3 में कहा गया है कि योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले मननशील पुरुष के लिये निष्काम भाव से कर्म करना ही हेतु है। अध्याय 6 के श्लोक 1 में भी कह चुके हैं कि जो पुरुष कर्मफल का आश्रय न लेकर करने योग्य कर्म करता है वह संन्यासी तथा योगी है। अतः यह तो स्पष्ट ही है कि योग का प्रारम्भ तो कर्म से ही होता है। सकाम कर्म से निष्काम कर्म की स्थिति को लाभ करना ही योग का प्रथम सोपान है। इस विषय में अध्याय 18 का श्लोक 6 भी पठनीय है।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(18/6)

सकामता से निष्कामता की ओर बढ़ने के लिये कामनाओं का त्याग आवश्यक है, स्वार्थ रहित सेवा आवश्यक है, कर्मों का चयन करना आवश्यक है कि वे शास्त्रविहित कर्म हों (श्लोक 3/8), यज्ञ के निमित्त हों (श्लोक 3/9)। स्थिरबुद्धि होना भी आवश्यक है।

इस प्रकार की स्थिति तक पहुँचने में कितना भी समय लग सकता है, कई जन्म भी लग सकते हैं, किन्तु असम्भव नहीं है। गीता में इसका सरल उपाय बताया गया है – सरल होना, सहज होना। देखिये अध्याय 6 के श्लोक 16 और 17 में कह रहे हैं –

हे अर्जुन, यह योग न तो बहुत खाने वाले का, न बिल्कुल न खाने वाले का, न अधिक शयन करने वाले का और न अधिक जागने वाले का सिद्ध होता है। यह तो सिद्ध होता है यथायोग्य आहार-विहार करने वालों का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वालों का। अध्याय 12 के श्लोक 13 और 14 में भी कहा गया है सब प्राणियों में द्वेषभाव से रहित सबका प्रेमी होने के लिये, ममता और अहंकार से रहित होने के लिये, क्षमावान् होने के लिये, निरन्तर सन्तुष्ट रहने के लिये।

योग की स्थिति को प्राप्त करने के लिये छठे अध्याय में ही भगवान् ने मन को वश में करने का परामर्श दिया है क्योंकि जिसका मन वश में किया हुआ नहीं है ऐसे पुरुष द्वारा योग दुष्प्राप्य है और वश में किये हुए मन वाले साधक द्वारा उसका प्राप्त होना सहज है (श्लोक 36)। मन को वश में करने का उपाय है – अभ्यास एवं वैराग्य। अभ्यास अर्थात् ध्यान का अभ्यास – दूसरी ओर न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करना (श्लोक 8/8)। इसी योग के बल से भृकुटि के मध्य में प्राण को अच्छी प्रकार स्थापित करके

निश्चल मन से स्मरण करता हुआ उस दिव्य पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है (श्लोक 8/10)।

इस प्रकार गीता के कथनानुसार योग के महत्त्व को समझकर हमें योगी होने का सतत प्रयास करते रहना चाहिये।

सुमति कुमति सब के उर रहहीं

अंग्रेजी में एक कहावत आती है –

A man is nothing but a bundle of virtues and vices.

अर्थात् मनुष्य गुण और दोषों के समूह के अतिरिक्त कुछ नहीं है। सच ही है – भगवान् की बनाई हुई इस सृष्टि में चहुँ ओर द्वैत ही दिखलाई पड़ता है – दिन है तो रात भी है, सुख है तो दु:ख भी है, अच्छाई है तो बुराई भी है, विष है तो अमृत भी है, लाभ है तो हानि भी है, कहीं भद्रता है तो कहीं अभद्रता है, कहीं गरीबी है तो कहीं अमीरी है। सृष्टि के सृजन के लिये भी जड़ व चेतन दोनों की ही आवश्यकता होती है। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदास जी ने मानस के आरम्भ में ही लिख दिया-

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।

अच्छाई व बुराई – दोनों का महत्त्व समझते हुए तुलसीदास जी ने दोनों को एक साथ प्रणाम भी किया है – **'बंदउँ संत असज्जन चरना'।**

इतना ही नहीं एक विद्वान कवि ने तो दुष्टों को सज्जनों से अधिक महत्त्व देते हुए लिखा है –

दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनन्तरम्।
मुखप्रक्षालनात् पूर्वं गुदप्रक्षालनं यथा॥

परन्तु यहाँ प्रसंग है कि सुमति और कुमति सभी के हृदय में रहती है। ऐसा प्राय: देखा जाता है कि अति श्रेष्ठ सज्जन व्यक्ति भी कभी-कभी भूल कर जाते हैं और इसके विपरीत दुष्ट व्यक्ति भी

कभी-कभी सुमति का प्रदर्शन कर देते हैं। रामचरित मानस में तो ऐसे अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं जहाँ पात्रों ने अपने स्वभाव के विपरीत आचरण किया है। इनमें से कुछ प्रसंग यहाँ उद्धरित किये जा रहे हैं।

लक्ष्मण जी की छवि उग्र स्वभाव के व्यक्ति की है किन्तु जो उपदेश उन्होने निषादराज को दिया है वह उनके स्वभाव के विपरीत परिलक्षित होता है।

बोले लखन मधुर मृदु बानी।
ग्यान बिराग भगति रस सानी॥
काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥
जोग बियोग भोग भल मंदा।
हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू।
संपति बिपति करमु अरु कालू॥
धरनि धामु धनु पुर परिवारू।
सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं।
मोह मूल परमारथु नाहीं॥

दो. **सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।**
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ॥

अस बिचारि नहिं कीजिअ रोसू।
काहुहि बादि न देइअ दोसू॥
मोह निसाँ सबु सोवनिहारा।
देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥

एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी।
परमारथी प्रपंच बियोगी॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा।
जब सब बिषय बिलास बिरागा॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा।
तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥
सखा परम परमारथु एहू।
मन क्रम बचन राम पद नेहू॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गतभेदा।
कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥
सखा समुझि अस परिहरि मोहू।
सिय रघुबीर चरन रत होहू॥

उपर्युक्त उपदेश लक्ष्मण गीता के नाम से प्रसिद्ध है। ठीक इसी प्रकार अत्यन्त मृदुल स्वभाव, दयालु, विनम्र सर्व-हितकारी भगवान् राम भी कभी-कभी क्रोध का प्रदर्शन करते हैं –

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी।
पावा राज कोस पुर नारी॥
जेहिं सायक मारा मैं बाली।
तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली॥

एक बार भगवान् को समुद्र पर क्रोध आया था जब वह तीन दिन लगातार विनय करने के बाद भी ध्यान नहीं देता –

बिनय न मानत जलधि जड़ गए तीनि दिन बीति।
बोले राम सकोप तब भय बिनु होइ न प्रीति॥

लछिमन बान सरासन आनू।
सौषौं बारिधि बिसिख कृसानू॥
सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती।
सहज कृपन सन सुंदर नीती॥
ममता रत सन ग्यान कहानी।
अति लोभी सन बिरति बखानी॥
क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा।
ऊसर बीज बएँ फल जथा॥
अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा।....

अब देखें किस प्रकार जग प्रसिद्ध राक्षसगण कहीं-कहीं सुमति का परिचय देते हैं। सूपनखा का परिचय गोस्वामी जी ने इन शब्दों में दिया है –

सूपनखा रावन कै बहिनी।
दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी॥

वही सूपनखा रावण को उपदेश दे रही है –

राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा।
हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा॥
बिद्या बिनु बिबेक उपजाएँ।
श्रम फल पढ़े किएँ अरु पाएँ॥
संग ते जती कुमंत्र ते राजा।
मान ते ग्यान पान ते लाजा॥
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी।
नासहिं बेगि नीति अस सुनी॥

रावण अपने पुत्र मेघनाद की मृत्यु पर अपने ज्ञान का प्रदर्शन करता है –

तब दसकंठ बिबिधि बिधि समुझाईं सब नारि।
नस्वर रूप जगत सब देखहु हृदयँ बिचारि॥

जिस समय रावण के हृदय में सुमति का निवास था उस समय उसने भृगु संहिता तथा शिवताण्डव स्तोत्र तक की रचना कर दी थी जो आज तक उपयोगी हैं।

राक्षस मारीच रावण को समझाने की चेष्टा करता है –

तेहिं पुनि कहा सुनहु दससीसा।
ते नररूप चराचर ईसा॥
तासों बयरु कबहुँ नहिं कीजै।
मोरे कहें जानकी दीजै॥

लंकिनी नाम की राक्षसी लंका के मुख्य द्वार की रक्षा हेतु नियुक्त की गई थी। हनुमान जी से मार खाते ही उसके हृदय पट खुल जाते हैं –

तात मोर अति पुन्य बहूता।
देखेउँ नयन राम कर दूता॥
तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥
प्रबिसि नगर कीजे सब काजा।
हृदयँ राखि कोसलपुर राजा॥
गरल सुधा रिपु करहिं मिताई।
गोपद सिंधु अनल सितलाई॥
गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही।
राम कृपा करि चितवा जाही॥

लक्ष्मण के प्राण बचाने हेतु जब हनुमान संजीवनी बूटी लेने जाते हैं तो उनको रोकने के लिये रावण कालनेमि राक्षस के पास जाता है। तब कालनेमि इस प्रकार अपने विवेक का प्रदर्शन करते हुए कहता है –

देखत तुम्हहि नगरु जेहिं जारा।
तासु पंथ को रोकन पारा॥
भजि रघुपति करु हित आपना।
छाँड़हु नाथ मृषा जल्पना॥
नील कंज तनु सुंदर स्यामा।
हृदयँ राखु लोचनाभिरामा॥
मैं तैं मोर मूढ़ता त्यागू।
महा मोह निसि सूतत जागू॥
काल ब्याल कर भच्छक जोई।
सपनेहुँ समर कि जीतिअ सोई॥

इस बात की पुष्टि गीता के अध्याय 14 में भी की गई है जिसके अनुसार सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण सभी में विद्यमान रहते हैं। कभी रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण बढ़ जाता है, कभी सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण तो कभी सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ जाता है। जिस समय जिस गुण की वृद्धि होती है उसी के अनुसार मनुष्य अच्छी या बुरी प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर होता है (गीता अध्याय 14, श्लोक 10, 11, 12, 13)।

साथ ही भगवान् ने यह भी बताया है कि अव्यभिचारिणी भक्ति के द्वारा तीनों गुणों को लाँघकर ब्रह्म को प्राप्त होने के योग्य बन जाता है।

❖ ❖ ❖

मौन का महत्त्व

एक पुरानी कहावत है – **एक चुप सौ को हरावे।** इस कहावत को एक कहानी के माध्यम से इस प्रकार समझाया जाता था – एक घर में सास बहू की आपसी लड़ाई के कारण प्रायः क्लेश रहता था। अवसर पाकर बहू ने एक सन्त से उपाय पूछा तो उस सन्त ने 'दवा' की एक बोतल देकर कहा कि जब भी तुम्हारी सास कुछ भला-बुरा कहने लगे तो इस बोतल की दवा को तुम अपने मुख में भर लेना और तब तक भरे रखना जब तक सास चुप न हो जाये। बहू ने ऐसा ही किया। अगली मुलाकात में सन्त ने जब दवा का प्रभाव जानना चाहा तो बहू ने कहा – महाराज उस दवा ने तो जादू कर दिया। अब तो घर में पूर्ण शान्ति है। कृपया बतायें वह कौन सी दवा है। सन्त ने कहा – बेटी, वह कोई दवा नहीं है, वह तो शुद्ध गंगाजल है जिसको मुख में भरने के कारण तुम मौन रहने पर विवश थी। प्रत्युत्तर न मिलने के कारण तुम्हारी सास को भी चुप रहना पड़ता था। फलतः स्वतः ही शान्ति हो जाती थी।

मौन का प्रभाव ही ऐसा होता है। हमारे गुरुदेव स्वामी रामानन्द जी महाराज ने तो मौन पर बहुत अधिक जोर दिया है। उनके साहित्य में अनेक स्थानों पर मौन का महत्त्व बताया गया है। साधना शिविर के नियमों में से मौन के नियम का अनिवार्य रूप से पालन करना होता है। दोपहर के दो घंटे तो मौन के लिये निश्चित ही किये गये हैं; इसके अतिरिक्त भी अधिकतर समय मौन रहने का परामर्श दिया जाता है। हमारी साधना पद्धति भी मौन जाप की है। इसके अतिरिक्त शयन के समय तथा अध्ययन के समय तो अनायास ही मौन हो जाता है।

वस्तुतः मौन का महत्त्व इसलिये भी है क्योंकि बोलने से शक्ति का ह्रास होता है। यही कारण रहा होगा कि हमारे गुरुदेव प्रत्येक सोमवार

को पूरा दिन मौन व्रत रखते थे। साधना धाम में स्थान-स्थान पर लिखा हुआ है – मौन से शक्ति का प्रवाह अधिक तेजी से होता है।

जब कहीं वाद-विवाद (संसद आदि में) अथवा बहस (न्यायालय आदि में) होती है तो एक बार में एक व्यक्ति ही बोलता है, शेष व्यक्ति मौन रहते हैं। यदि एक से अधिक व्यक्ति एक साथ बोलने लगते हैं तो किसी भी व्यक्ति की बात नहीं समझ पाते हैं। जब हम महाविद्यालय में पढ़ने जाते हैं तो केवल प्राध्यापक बोलते हैं और सभी विद्यार्थी मौन रहकर सुनते हैं। किसी धार्मिक सभा में भी सभी श्रोतागण मौन बैठकर प्रवचन सुनते हैं, तभी कुछ ग्रहण कर पाते हैं। वेद जब तक लिपिबद्ध नहीं किये गये थे तब तक श्रुतियों के रूप में ही प्रचलित थे अर्थात् एक दूसरे से सुनकर ही आगे बढ़ते गये।

सुनने का महत्त्व बोलने से अधिक है क्योंकि हम बोलते तो वही हैं जिसका ज्ञान हमें पहले से है किन्तु सुनने से हमें नई बातें पता लगती हैं जिससे हमारा ज्ञानवर्धन होता है। सम्भवतः इसी कारण भगवान् ने सब जीवों को दो कान दिये हैं जबकि मुख एक ही होता है जो बोलने के अतिरिक्त खाने का काम भी करता है।

गीता की बात करें तो अनेक स्थानों पर भगवान् ने मौन का महत्त्व बताया है। सर्वप्रथम तो भगवान् अपना उपदेश ही तब आरम्भ करते हैं जब अर्जुन अपनी पूरी बात कहकर चुप हो जाता है (2/9 श्लोक) – **न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह –** 'युद्ध नहीं करूँगा' कहकर अर्जुन चुप हो गये। आगे 10/38 श्लोक में भगवान् कहते हैं – **मौनं चैवास्मि गुह्यानां** – गुप्त रखने योग्य भावों का मौन मैं हूँ, अर्थात् कोई बात गुप्त रखनी हो तो मौन ही सबसे अच्छा साधन है।

पुनः अध्याय 12 के श्लोक 9 में भक्तों के लक्षण बताते हुए कहते हैं –

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।

मौनी भी मेरा भक्त है। यहाँ मौनी का अर्थ है मननशील। मननशील अर्थात् ईश्वर के स्वरूप का निरन्तर मनन करने वाला। संकेत से

यह बताने की चेष्टा है कि मौन केवल वाणी का ही नहीं, विचारों का भी होना चाहिये। चित्त की चंचलता का अभाव भी मौन का ही परिचायक है। अध्याय 17 के श्लोक 16 में पुनः दोहराया गया है –

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।

यहाँ भी मौन का अर्थ भगवत्चिन्तन करने का स्वभाव बताया गया है।

अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी देखा जाय तो जिस वस्तु की आपूर्ति अधिक होती है उसका मूल्य घट जाता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार जो व्यक्ति अधिक बोलता है उस की बात का मूल्य कम होता है जबकि कम बोलने वाले व्यक्ति की वाणी का एक एक शब्द मूल्यवान होता है। महात्मा गाँधी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

मितभाषी व्यक्ति सर्वत्र पूजनीय होता है। शास्त्रों में कहा गया है कि पहले तोलो फिर बोलो क्योंकि मुँह से निकलने के बाद शब्द वापस नहीं आ सकते भले ही वक्ता घोषणा कर दे कि मैं अपने शब्द वापस लेता हूँ। तोलकर बोलने का अर्थ गीता के अध्याय 17 के श्लोक 15 में इस प्रकार समझाया गया है –

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

मानस में भी कहा गया है –

कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी।

उपरोक्त विश्लेषण से निम्न बातें उभर कर आती हैं –

1. बोलने से पहले एक क्षण के लिये सोचो कि बोलना आवश्यक है या नहीं।
2. बोले जाने वाले शब्दों से सुनने वाले का हित होता है या नहीं।
3. वाणी सत्य एवं प्रिय है कि नहीं।

इनमें से एक का उत्तर भी नहीं में हो तो मौन ही श्रेयस्कर होगा।

मौन की इतनी वकालत करने का यह अर्थ कदापि नहीं निकालना चाहिये कि जहाँ बोलना आवश्यक हो वहाँ भी चुप रहा जाये। इससे तो उल्टा अनिष्ट होने की सम्भावना अधिक है। महाभारत में द्रोपदी चीर हरण के समय भीष्म पितामह का मौन जो भीषण परिणाम लेकर आया उससे सभी परिचित हैं। इसके विपरीत रामचरितमानस में जटायु का सीताहरण के अवसर पर (उचित समय पर) रावण से वाद-विवाद उसके मोक्ष का कारण बना।

रे रे दुष्ट ठाढ़ किन होही।
निर्भय चलेसि न जानेहि मोही॥

अब निष्कर्ष यह निकलता है कि मौन के साथ-साथ वार्तालाप भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। उल्लेखनीय है कि वार्तालाप के माध्यम से भाई-भाई के झगड़े सुलझाये जाते हैं, पति-पत्नी के सम्बन्ध विच्छेद टाले जाते हैं, पड़ोसियों की लड़ाई निपटाई जाती है – यहाँ तक की दो देशों के बीच के सम्भावित युद्ध पर भी विजय पाई जाती है। गीता में भी अर्जुन यदि प्रश्न पर प्रश्न नहीं करता तो भगवान् के मुख से इतना ज्ञान प्रस्फुटित न होता, न ही उसके सभी संशय नष्ट होते, न ही वह कह पाता –

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा।

सारांश यह कि मौन की स्थिति का लाभ करने के लिये वार्तालाप की राह से होकर जाना पड़ता है। वार्तालाप से ही संशयों का समाधान होकर मौन की स्थिति प्राप्त हो पाती है। ऐसी स्थिति जहाँ व्यक्ति दूसरों के साथ बातचीत न करके स्वयं से ही बातचीत करने लगता है जिसे आत्म विश्लेषण भी कह सकते हैं। आत्म विश्लेषण के पश्चात् आत्मशोधन तथा अन्त में पूर्ण मौन-पूर्ण शान्ति। पूर्ण शान्ति॥

❖ ❖ ❖

जीव कि ईस समान

यह पद्यांश गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानस के उस प्रसंग में आता है जब काकभुशुण्डि जी गरुड़ को अपने पूर्व जन्म की कथा बताते हुए कहते हैं कि किस प्रकार उनको लोमश ऋषि के क्रोध का भागी होकर उनके श्रापवश कौए का शरीर प्राप्त हुआ था। लोमश जैसे ब्रह्मचारी को क्रोध के वश होते देखकर काकभुशुण्डि जी के मन में विचार आता है कि जीव कितना भी ज्ञानी क्यों न हो जाये वह कभी ईश्वर अथवा ब्रह्म के समान नहीं हो सकता –

क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अग्यान।
मायाबस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान॥

उत्तरकाण्ड दोहा 111(ख)

यहाँ जीव तथा ईश्वर का भेद स्पष्ट प्रतीत होता है।

अरण्यकाण्ड के दोहा 15 में भी भगवान् राम लक्ष्मण को ईश्वर व जीव का भेद समझाते हुए कहते हैं कि जो माया को, ईश्वर को और अपने स्वरूप को नहीं जानता उसे जीव कहना चाहिये तथा जो बन्धन और मोक्ष को देने वाला, सबसे परे और माया के प्रेरक हैं वह ईश्वर हैं –

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छ प्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव॥

पुनः उत्तरकाण्ड में ही जीव को ईश्वर का अंश बतलाया गया है, इसीलिये उसमें ईश्वरीय गुण हैं जैसे चेतन, अमल और स्वभाव से ही सुख की राशि। दोहा 78 के अन्तर्गत काकभुशुण्डि जी कहते हैं –

'एक सीतापति श्री राम जी ही अखण्ड ज्ञानस्वरूप हैं और जड़ चेतन सभी जीव माया के वश में हैं। यदि जीवों को अखण्ड ज्ञान रहे तो कहिये फिर ईश्वर और जीव में भेद ही कैसा? अभिमानी जीव माया के वश है और वह तीनों गुणों की खान माया ईश्वर के वश में है। जीव परतन्त्र है, भगवान् स्वतन्त्र हैं; जीव अनेक हैं, श्रीपति भगवान् एक हैं।' साथ ही यह भी कह दिया कि 'यह भेद वास्तव में है असत् ही, माया के कारण सत्य प्रतीत होता है' –

ग्यान अखंड एक सीताबर।
माया बस्य जीव सचराचर॥
जौं सब कें रह ग्यान एकरस।
ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस॥
माया बस्य जीव अभिमानी।
ईस बस्य माया गुनखानी॥
परबस जीव स्वबस भगवंता।
जीव अनेक एक श्रीकंता॥
मुधा भेद जद्यपि कृत माया।
बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥

किन्तु यह बात भगवान् के भजन के बिना समझ में नहीं आ सकती। इसीलिये गीता के अध्याय 7 के श्लोक 14 में भगवान् स्वयं कहते हैं –

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

इस विषय में उपनिषद् में भी कुछ स्पष्टीकरण किया गया है – इन्द्रियों से शब्दादि विषय बलवान हैं और शब्दादि विषयों से मन

प्रबल है और मन से भी बुद्धि बलवती है, तथा बुद्धि से महान आत्मा (उन सबका स्वामी होने के कारण) अत्यन्त श्रेष्ठ और बलवान है।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥

(कठोपनिषद्, 1-3-10)

इसी मत की पुष्टि गीता के अध्याय 3 के श्लोक 42 में की गई है। किन्तु उपनिषद् तो इससे भी आगे बढ़कर कुछ और बतला रहा है। उपरोक्त मन्त्र से अगले मन्त्र में कहा गया है –

'उस जीवात्मा से बलवती है भगवान् की अव्यक्त मायाशक्ति, अव्यक्त माया से श्रेष्ठ है परमपुरुष (स्वयं परमेश्वर) और उससे अधिक कुछ भी नहीं।'

महत परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गति॥

(कठोपनिषद्, 1-3-11)

अतः जीवात्मा व परमात्मा का भेद स्पष्ट है। उपरोक्त मन्त्र की व्याख्या में स्पष्ट किया गया है कि परम कृपालु परमात्मा कृपा परवश हो जीव को उसके कल्याण-सम्पादन के लिये यह श्रेष्ठ शरीर प्रदान करते हैं और फिर उस जीवात्मा के साथ ही स्वयं भी उसी के हृदय के अन्तःस्थल में प्रविष्ट हो रहते हैं, जैसा कि गीता के अध्याय 18 के श्लोक 61 में भी कहा गया है। शरीर में स्थित जीवात्मा फल भोगता है परन्तु वह फल भोग के समय असंग नहीं रहता। वह अभिमानवश उसमें सुख का उपभोग करता है। इस प्रकार साथ रहने पर भी जीवात्मा और परमात्मा दोनों छाया और धूप की भाँति परस्पर भिन्न हैं। जीवात्मा छाया की भाँति अल्प प्रकाश – अल्पज्ञ है और परमात्मा धूप की भाँति पूर्ण प्रकाश – सर्वज्ञ। परन्तु जीवात्मा में जो कुछ अल्प ज्ञान है, वह भी परमात्मा

का ही है, जैसे छाया में अल्प प्रकाश पूर्ण प्रकाश रूप धूप का ही होता है।

कठोपनिषद् में ही जीवात्मा के विषय में एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य को प्रकाशित किया गया है। अध्याय 1 वल्ली 3 के मन्त्र 4 में कहा गया है कि जीवात्मा परमात्मा से बिछुड़ा हुआ है, अनन्त काल से वह अनवरत संसार रूपी बीहड़ वन में इधर-उधर सुख की खोज में भटक रहा है। उसकी इस दयनीय दशा को देखकर दयामय परमात्मा ने उसे मानव शरीर रूपी सुन्दर सर्व साधन सम्पन्न रथ दिया। इन्द्रिय रूपी बलवान घोड़े दिये। उनके मन रूपी लगाम लगाकर उसे बुद्धि रूपी सारथि के हाथों में सौंप दिया और जीवात्मा को उस रथ में बैठाकर – उसका स्वामी बनाकर यह बतला दिया कि वह निरन्तर बुद्धि को भगवान् की ओर ले जाने की प्रेरणा देता रहे, किन्तु जीवात्मा मोहवश अपने लक्ष्य को भुला बैठा और बुद्धि को प्रेरणा देना बन्द कर दिया जिससे असावधान होकर उसने मन रूपी लगाम को दुष्ट घोड़ों (इन्द्रियों) की इच्छा पर छोड़ दिया। परिणाम यह हुआ कि जीवात्मा इन्द्रियों के अधीन होकर वह जिन शरीर, इन्द्रिय और मन के सहयोग से भगवान् को प्राप्त कर सकता, उन्हीं के साथ युक्त होकर वह विषय-विष के उपभोग में लग गया।

ईश्वर व जीव की पृथकता के विषय में इतने प्रमाण मिलने के पश्चात् जब साधक गीता के अध्याय 13 के श्लोक 22 का अवलोकन करता है तो भ्रमित हो जाता है। इस श्लोक में कहा गया है कि इस देह में स्थित यह आत्मा वास्तव में परमात्मा ही है – **'देहेऽस्मिन्पुरुषः परः',** वही उपद्रष्टा है – अर्थात् साक्षी है, अनुमन्ता है, भर्ता है, भोक्ता है, महेश्वर भी है और परमात्मा भी है।

इस भ्रम का निराकरण सम्भवतः न्याय शास्त्र के उस अंश से हो सकता है जिसके अनुसार ईश्वर शुद्ध चेतन अंश है जो सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है, जिसके बिना सृष्टि का अस्तित्व ही नहीं है किन्तु **जीव ईश्वर का वह रूप है जो क्रिया शक्ति तथा ज्ञान शक्ति से युक्त है तथा इस क्रिया शक्ति व ज्ञान शक्ति की**

भिन्नता ही जीवों में पृथकता की जनक है। अर्थात् शुद्ध चेतना जो क्रिया शक्ति व ज्ञान शक्ति से रहित है अथवा यूँ कहा जाये कि जो अनन्त क्रिया शक्ति व ज्ञान शक्ति से परिपूर्ण है वह ईश्वर है किन्तु जैसे ही वह इन शक्तियों से जुड़ता है – अर्थात् सीमित व भिन्न स्तर की शक्तियों से जुड़ता है, वह जीव कहलाता है और जैसे ही वह इन शक्तियों से परे हो जाता है वह ईश्वर हो जाता है।

❖ ❖ ❖

गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा

गोस्वामी तुलसीदास जी की चौपाइयों का विश्लेषण किया जाय तो लगता है कि सभी चौपाइयों में कोई न कोई विस्तृत आशय छिपा होता है। उपरोक्त चौपाई गोस्वामी जी ने रामचरितमानस के अयोध्याकाण्ड में ऋषि वाल्मीकि के मुख से कहलवाई है, जब वह भगवान् को उनके रहने के स्थान बताते हैं। किन्तु इस प्रकार के भाव की आवृत्ति मानस एवं गीता के अनेक प्रसंगों में पाई जाती है। उनकी गहराई में जाने से पहले उक्त चौपाई का अर्थ समझना उचित होगा।

ऋषि वाल्मीकि भगवान् को कह रहे हैं – **गुन तुम्हार समुझइ** अर्थात् दुनिया में यदि कोई गुण है, विशेषता है, श्रेष्ठता है तो वह सब तुम्हारी है, अन्य किसी की नहीं, मेरी तो बिल्कुल नहीं। हम संसारी जीवों की एक कमजोरी है कि गुणों को अपना समझते हैं और विडम्बना तो यह है कि यदि कभी कोई व्यक्ति झूठे भी हमारा कोई गुण हमारे सामने कह दे तो हम उसे सच समझ कर फूले नहीं समाते और अपने गुणों व पुण्यों तथा दूसरों द्वारा की गई प्रशंसाओं की झड़ी लगा देते हैं। पुराणों में इसका वर्णन नारद ऋषि के काम विजय के प्रसंग में मिलता है। एक अन्य स्थान पर इन्द्रपत्नी शची की कथा में भी मिलता है जब इन्द्र का राज्य नहुष हड़प लेता है और शची को अपनी पत्नी बनाना चाहता है तो शची ने चतुराई का परिचय देते हुए नहुष के सम्मुख ही उसका गुणगान आरम्भ कर दिया जिससे फूल कर नहुष ने अपने सब अर्जित पुण्य अपने मुख से कह डाले जिसके कारण वे सभी पुण्य प्रभावहीन हो गये और वह स्वर्ग से अपना अधिकार खो बैठा।

वास्तविकता तो यही है कि संसार में सभी वस्तुएँ (तथा गुण भी) भगवान् के ही हैं। अल्प समय के लिये भगवान् वे गुण अथवा भोग हमें प्रदान करता है सदुपयोग के लिये किन्तु हम उसके मालिक बन बैठते हैं और दुरुपयोग कर लेते हैं। यदि उनका भोग त्यागपूर्वक करें तो सम्भवतः निवृत्ति के मार्ग पर अग्रसर हो सकें। यही बात ईशावास्य उपनिषद् के प्रथम मन्त्र में कही गई है –

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

केनोपनिषद् के तृतीय खण्ड में बताया गया है कि परब्रह्म परमेश्वर ने ही देवताओं के लिये (उनको निमित्त बनाकर) असुरों पर विजय प्राप्त की किन्तु उस परब्रह्म पुरुषोत्तम की विजय में इन्द्रादि देवताओं ने अपने में ही महत्त्व का अभिमान कर लिया। वे यों समझने लगे कि यह हमारी ही विजय है, यह हमारी ही महिमा है। उस परब्रह्म ने देवताओं के अभिमान को जान लिया तथा देवताओं पर कृपा करके उनका दर्प चूर्ण करने के लिये वे उनके सामने दिव्य साकार यक्षरूप में प्रकट हो गये पर देवता उनको पहचान नहीं सके। पता लगाने के लिये देवताओं ने क्रमशः शक्तिशाली अग्निदेव व पवनदेव को भेजा, किन्तु जब वे दोनों देव अपनी शक्ति से एक तिनके को भी भस्म करने व उड़ाने में असमर्थ रहे तब उनका गर्व चूर्ण हुआ।

गीता के दशम् अध्याय में भगवान् स्वयं अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा, प्रभावशाली पुरुषों का प्रभाव, जीतने वालों की विजय, निश्चय करने वालों का निश्चय, सात्विक पुरुषों का सात्विक भाव, दमन करने वालों का दण्ड (दमन करने की शक्ति), जीतने की इच्छा वालों की नीति, गुप्त रखने योग्य भावों का मौन और ज्ञानवानों का तत्त्वज्ञान मैं ही हूँ (श्लोक 34 से 38)। श्लोक 41 में तो यहाँ तक कह दिया कि जो जो भी विभूतियुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त

वस्तु है उस उस को तू मेरे तेज के अंश की ही अभिव्यक्ति जान। तात्पर्य यह है कि संसार में जितने भी गुण हैं सब भगवान् के हैं।

चौपाई के दूसरे अंश में गोस्वामी जी कहते हैं – **समुझइ निज दोसा** अर्थात् साधक को समझना चाहिये कि दुनिया भर के जितने दोष हैं, अवगुण हैं, कमियाँ हैं, उनके लिये मैं दोषी हूँ। हम लोगों की आदत है कि सदैव दूसरों में अवगुण देखते रहते हैं। और कुछ नहीं तो राज्य व शासक में ही दोष ढूँढ लेते हैं। राम राज्य में तो भगवान् राम में ही लोगों ने दोष ढूँढ़ लिया था। मित्रों, पड़ौसियों, राज्य कर्मचारियों का तो कहना ही क्या, हम तो गुरुजनों व माता-पिता तक में दोष ढूँढ लेते हैं।

इसके विपरीत गोस्वामी जी ने स्वयं में दोषों की खोज की तथा रामचरितमानस के लगभग सभी महान पात्रों के मुख से स्वयं के अवगुणों का बखान करवाया। सर्वप्रथम गोस्वामी जी का ही उदाहरण लें –

विनय पत्रिका के पद संख्या 92 में कहते हैं –

माधवजू, मोसम मंद न कोऊ।
जद्यपि मीन-पतंग हीनमति,
मोहि नहिं पूजैं ओऊ॥
रुचिर रूप-आहार-बस्य उन्ह,
पावक लोह न जान्यो।
देखत बिपति बिषय न तजत हौं,
ताते अधिक अयान्यो॥
महामोह-सरिता अपार महँ,
संतत फिरत बह्यो।
श्री हरि-चरन-कमल नौका तजि,
फिरि-फिरि फेन गह्यो॥

अस्थि पुरातन छुधित स्वान अति,
ज्यौं भरि मुख पकरै।
निज तालूगत रुधिर पान करि,
मन संतोष धरै॥
परम कठिन भव-ब्याल-ग्रसित हौं,
त्रसित भयो अति भारी।
चाहत अभय भेक सरनागत,
खगपति-नाथ बिसारी॥

. . . . . .

मेरे अघ सारद अनेक जुग,
बनत पार नहिं पावै॥

यदि सरस्वती जी अनेक युगों तक मेरे पापों को गिनती रहें तब भी उनका अन्त नहीं पा सकतीं।

अब एक दृष्टिपात रामचरितमानस के उस भाग पर भी कर ली जाय जहाँ गोस्वामी जी ने सभी की वन्दना व गुणगान करके स्वयं के दोषों का मुक्त कण्ठ से गायन किया है –

करन चहउँ रघुपति गुन गाहा।
लघु मति मोरि चरित अवगाहा॥
सूझ न एकउ अंग उपाऊ।
मन मति रंक मनोरथ राऊ॥
मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी।
चहिअ अमिअ जग जुरइ न छाछी॥
कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू।
सकल कला सब बिद्या हीनू॥

कबित बिबेक एक नहिं मोरें।
सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें॥

इतना लिखकर भी जब इस महाकवि को सन्तोष नहीं हुआ तो आगे की चौपाइयों में स्वनिन्दा की सीमा ही पार कर दी –

जे जनमे कलिकाल कराला।
करतब बायस बेष मराला॥
चलत कुपंथ बेद मग छाँड़े।
कपट कलेवर कलि मल भाँड़े॥
बंचक भगत कहाइ राम के।
किंकर कंचन कोह काम के॥
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी।
धींग धरमध्वज धंधक धोरी॥
जौं अपने अवगुन सब कहऊँ।
बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊँ॥

क्या उद्देश्य था अपने काल्पनिक अवगुणों का इतना विस्तार से वर्णन करने का? तुलसी दास जी जानते थे कि जिस प्रकार अपने मुख से अपने पुण्यों का वर्णन करने से पुण्य क्षीण हो जाते हैं उसी प्रकार अपने दोषों का वर्णन करने से पाप क्षीण हो जाते हैं। जैसे ईसाई लोग पश्चात्ताप करने के लिये चर्च में जाकर फादर को सुनाकर स्वयं अपनी भूल को स्वीकार करते हैं और पापमुक्त हो जाते हैं।

मानस के जितने उच्च कोटि के पात्र हैं, सभी ने इसी प्रकार विनीत भाव प्रदर्शित किया है। भरत का चरित्र तो विनम्रता का उदाहरण ही है –

मोहि समान को पाप निवासू।
जेहि लगि सीय राम बनवासू॥

मैं सठु सब अनरथ कर हेतू।
बैठ बात सब सुनउँ सचेतू॥

हनुमान जी महाराज तो अपनी प्रशंसा सुन ही नहीं पाते। देखें किस प्रकार वे महान भक्त भगवान् राम को, विभीषण को और माता सीता को अपना परिचय देते हैं –

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥
कहहु कवन मैं परम कुलीना।
कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥
प्रात लेइ जो नाम हमारा।
तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा॥
अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।

जानकी जी को क्या कहते हैं –

सुनु माता साखामृग नहिं बल बुद्धि बिसाल।
प्रभु प्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल॥

सारांश यह कि गुण देखने हैं तो भगवान् में देखो, दोष देखने हैं तो स्वयं में देखो। यही आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर अग्रसर होने का सरल उपाय है।

❖ ❖ ❖

त्याग की अनिवार्यता

अपनी इच्छा से किसी वस्तु को छोड़ना त्याग कहलाता है। त्याग से ही सृष्टि की रचना होती है, त्याग से ही सृष्टि चलती है। जब किसान बीज का त्याग करता है तभी फसल उगती है, अनाज की उत्पत्ति होती है। जब समुद्र भाप के रूप में अपने एक अंश का त्याग करता है तभी बादल बनता है। जब बादल स्वयं का त्याग करता है तभी वर्षा के रूप में बरसता है और वनस्पति पेड़, पौधे, फूल आदि पनपते हैं।

पूरी सृष्टि में चर या अचर जितनी भी वस्तुयें दिखाई देती हैं, सभी जड़ व चेतन के संयोग से बनती हैं। एक जीव से दूसरा जीव तभी पैदा होता है जब वह अपने तेज के एक अंश का परित्याग करता है।

यूँ तो मरकर भी व्यक्ति शरीर या शरीर से सम्बन्धित सभी वस्तुओं व व्यक्तियों को छोड़ देता है परन्तु वह छूटना होता है, छोड़ना नहीं, अतः त्याग की श्रेणी में नहीं आता। त्याग एक शाश्वत प्रक्रिया है, इस प्रक्रिया को रोकने की चेष्टा करना सृष्टि के विकास में बाधा डालना है। एक सांस को छोड़ते हैं तो दूसरा सांस ले पाते हैं। पहले के ग्रहण किये गये अन्न की उतनी ही मात्रा का त्याग किसी न किसी रूप में करते हैं तभी दूसरा अन्न ग्रहण कर पाते हैं। जब हम यात्रा करते हैं तो एक स्टेशन को त्यागते हैं तभी ट्रेन में सवार हो पाते हैं, ट्रेन को त्यागते हैं तभी दूसरे स्टेशन पर उतर पाते हैं।

आइये देखें, गीता में भगवान् त्याग के विषय में क्या कहते हैं। सर्वप्रथम तो अर्जुन स्वयं त्याग का उदाहरण प्रस्तुत करता है जब वह भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने के लिये एक अक्षौहिणी सेना का त्याग कर देता है।

उसके पश्चात् युद्ध के आरम्भ में ही वह अपने गाण्डीव धनुष का त्याग कर देता है और समस्त राज्य तथा सुखों, यहाँ तक कि जीवन का परित्याग करने को उद्यत हो जाता है (गीता 1/32)। ज्ञातव्य है कि त्याग से ही प्राप्ति होती है। उस त्याग के फलस्वरूप अर्जुन को भगवान् का उपदेश व मार्गदर्शन प्राप्त होता है। सर्वप्रथम भगवान् कर्म व कर्मफल की आसक्ति को त्यागने का आदेश देते हैं (गीता 2/48)। उसके बाद पाप और पुण्य – दोनों को त्यागकर समत्वरूप योग में स्थित होने को कहते हैं (गीता 2/50)।

गीता के अध्याय 2 के श्लोक 55 में भगवान् स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताते हुए कहते हैं –

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ही स्थितप्रज्ञ हुआ जा सकता है। इसी अध्याय के श्लोक 71 में कामनाओं के साथ-साथ ममता तथा अहंकार को त्यागना भी आवश्यक बताया गया है।

वेदों का विधान है कि यज्ञों के माध्यम से हम देवताओं द्वारा प्रदत्त अन्न को पहले उनको समर्पित करें, फिर यज्ञशेष का उपयोग करें। अर्थात् पहले त्याग, फिर ग्रहण (गीता 3/13)।

गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी मनुष्य त्याग के द्वारा परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। गीता में विस्तार से बताया गया है कि किस प्रकार के त्याग से आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर हुआ जा सकता है –

1. समस्त कर्मों व उनके फलों में आसक्ति का त्याग – अध्याय 4 श्लोक 20
2. समस्त भोगों की सामग्री का त्याग (त्यक्त सर्वपरिग्रह) – अध्याय 4 श्लोक 21
3. देहाभिमान और ममता का त्याग (मुक्तस्य) – अध्याय 4 श्लोक 23

4. सब कर्मों का परमात्मा में अर्पण (ब्रह्मणि आधाय कर्माणि) अध्याय 5 श्लोक 10
5. संग त्यक्त्वा – आसक्ति का त्याग – अध्याय 5 श्लोक 10
6. कर्मों के फल का त्याग (कर्मफलम् त्यक्त्वा) – अध्याय 5 श्लोक 12
7. सब कर्मों का मन से त्याग (सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते) – अध्याय 5 श्लोक 13
8. अध्याय 12 में भगवान् अर्जुन को आदेश देते हैं कि मुझमें मन को लगा और मुझ में ही बुद्धि को लगा। यदि मन को लगाने में असमर्थ है तो अभ्यास रूप योग के द्वारा मुझको प्राप्त करने की इच्छा कर।

अभ्यास में भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये ही कर्म करने के परायण हो जा और यदि इस साधन को करने में भी असमर्थ है तो सब कर्मों के फल का त्याग कर क्योंकि त्याग से तत्काल शांति प्राप्त होती है अर्थात् शांति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है त्याग। इसी अध्याय में आगे भगवान् बताते हैं कि मेरा भक्त कहलाने के लिये क्या-क्या त्यागना आवश्यक है। सब भूतों में द्वेष भाव का त्याग, स्वार्थ का त्याग, ममता का त्याग, अहंकार का त्याग, अपराध करने वाले के प्रति भी क्रोध अथवा द्वेष भाव का त्याग, हर्ष और अमर्ष का त्याग, आकांक्षा का त्याग, पक्षपात का त्याग – इन सब वस्तुओं का त्याग करने वाला भक्त भगवान् को अत्यन्त प्रिय है।

यद्यपि छठे अध्याय के प्रथम श्लोक में भगवान् संन्यास की चर्चा कर चुके हैं फिर भी अध्याय 18 में अर्जुन संन्यास और त्याग का अन्तर समझने का इच्छुक है। भगवान् स्पष्टीकरण करते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करने योग्य नहीं है बल्कि ये तो अवश्य करणीय कर्म हैं। त्यागने की आवश्यकता है इन कर्मों में आसक्ति तथा फल की (18/6)। भगवान् ने तो यहाँ तक कह दिया कि कर्मफल का त्याग करने वाले मनुष्यों को अगले जन्म में भी इस जन्म के किये हुए कर्मों का फल नहीं भोगना होता और इस प्रकार

कर्मों से मुक्त होकर वह जन्म-मरण के बन्धन से छूट सकता है। श्लोक 12 में बताया गया है कि कर्मों का अच्छा, बुरा और मिला हुआ – तीन प्रकार का फल मरने के पश्चात् अवश्य होता है किन्तु यह होता है कर्मफल का त्याग न करने वाले मनुष्यों को – भवति अत्यागिनाम्। श्लोक 17 के अनुसार जिसने कर्तापन के भाव का त्याग कर दिया है वह पुरुष सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न तो मारता है और न पाप से बंधता है अर्थात् उसके सभी कर्म अकर्म या अफलदायक हो जाते हैं। ऐसा है त्याग का प्रभाव।

हम अपने जीवन काल में भी देखते हैं कि जिसने त्याग किया है उसी को कुछ प्राप्ति हुई है, वही सफलता की सीढ़ी चढ़ पाया है। लगभग 6 दशक पूर्व की घटना है श्रद्धेय स्वर्गीय लाल बहादुर शास्त्री जब रेल मन्त्री थे, एक रेल दुर्घटना का उत्तरदायी स्वयं को मानते हुए नैतिकता के आधार पर रेल मन्त्री पद से त्याग पत्र दे दिया था। इस घटना के कुछ ही समय पश्चात् उन्हें ससम्मान प्रधान मन्त्री का पद सौंप दिया गया था। जो माँ-बाप अपने सुखों का त्याग करके अपनी सन्तान के प्रति अपना कर्तव्य का पालन समुचित ढंग से करते हैं उनकी सन्तान प्रायः उनको सुख देती देखी जाती है। जो अपने सुखों का त्याग करके समाज सेवा करते हैं उनका समाज में खूब मान-सम्मान होता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी रामचरितमानस में अनेक स्थानों पर त्याग की महिमा बताई है। भगवान् राम विभीषण को अपनी शरण में आया देखकर कहते हैं

जननी जनक बंधु सुत दारा।
तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी।
मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें।
लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

तथा,

जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई।
प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई।
तेहि के हृदयँ रहहु रघुराई॥

सारांश यह है कि जितना त्याग उतनी ही उपलब्धि। यहाँ तक कि सर्वस्व त्याग का फल सर्वस्व की उपलब्धि।

❖ ❖ ❖

प्रकृति के तीन गुण

भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है –

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

गुणमयी का अर्थ तीन गुणों – सत्त्व, रज व तम से युक्त। भगवान् सृष्टि का संचालन करते हैं माया अथवा प्रकृति के माध्यम से और माया के ही तीन गुण हैं। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि पृथ्वी या आकाश में अथवा देवताओं में तथा इनके सिवा और कहीं भी ऐसा कोई सत्त्व नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से रहित हो (गीता 18/40)। यह त्रिगुणमयी माया कितनी प्रबल है इसका वर्णन रामचरितमानस में तो स्थान-स्थान पर मिलता है –

मन महुँ करइ बिचार बिधाता।
माया बस कबि कोबिद ग्याता॥
हरि माया कर अमिति प्रभावा।
बिपुल बार जेहिं मोहि नचावा॥

(मानस 7/60/3-4)

अर्थात् ब्रह्मा जी भी मानते हैं कि इस माया ने तो मुझे ही अनेकों बार नचाया है, साधारण जीव की तो बात ही क्या है।

दोहा 62 में फिर कहा है –

सिव बिरंचि कहुँ मोइइ को है बपुरा आन।
अस जियँ जानि भजहिं मुनि माया पति भगवान॥

इस माया के तीन गुण हैं जिनका वर्णन गीता के अध्याय 14 में विस्तार से किया गया है। इस अध्याय के श्लोक 5 में भगवान् कहते हैं –

'हे अर्जुन! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण – ये प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं।

इसी अध्याय में आगे बताया गया है कि सत्त्वगुण सुख में लगाता है और सुख के सम्बन्ध से, ज्ञान और उसके अभिमान से बाँधता है, रजोगुण कर्म में लगाता है और इस जीवात्मा को कर्मों के और उसके फल के सम्बन्ध से बाँधता है; तथा तमोगुण ज्ञान को ढककर प्रमाद में लगाता है और वह जीवात्मा को आलस्य और निद्रा के द्वारा बाँधता है।

ये तीनों गुण मनुष्य के हृदय में सदा निवास करते हैं।

नित जुग धर्म होहिं सब केरे।
हृदयँ राम माया के प्रेरे॥

(मानस 7-104-1)

समय-समय पर इनमें से कोई गुण दूसरे गुणों को दबाकर अधिक प्रभावशाली हो जाता है और उसी के अनुसार मनुष्य का व्यवहार प्रदर्शित होता है। सत्त्वगुण की वृद्धि होने पर इन्द्रियों में चेतनता, विवेक, मन में सद्गुणों का उदय होने लगता है और मनुष्य में सत्कर्मों की प्रेरणा होने लगती है। रजोगुण की वृद्धि होने पर लोभ, अशान्ति, सकाम भाव से कर्म करना, विषय-भोगों की लालसा आदि की भावनायें उत्पन्न होने लगती हैं। तमोगुण की वृद्धि होने पर व्यर्थ की चेष्टायें, कर्तव्य में चूक, निद्रा, आलस्य जैसी प्रवृत्तियाँ घेर लेती हैं (गीता 14/11, 12, 13)।

विडम्बना यह है कि जिस गुण की वृद्धि के समय मानव देह-त्याग करता है उसी के अनुसार अगला जन्म होता है (गीता 14/14, 15)। इसी प्रकार का आशय अध्याय 8 के श्लोक 6 में व्यक्त किया गया है। किन्तु अन्त समय में भी प्रायः उसी भाव का स्मरण होता है जिसका स्मरण वह अपने जीवन काल में करता रहा है। अतः सात्त्विक वृत्तियों को जागृत करते रहना ही एकमात्र उपाय है जिनका वर्णन गीता अध्याय

16 श्लोक 1, 2, 3 तथा अध्याय 18 श्लोक 51, 52, 53 में किया गया है। संक्षिप्त में कहा जाये तो मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा शरीर को सदैव सत्कर्मों में लगाये रखना ही बुद्धिमत्ता है। सत्त्वगुण इस जन्म में तो सुख में लगाता ही है, मृत्यु के पश्चात् भी स्वर्गादि की प्राप्ति कराता है (गीता 14/18)।

जिन व्यक्तियों में रजोगुण व तमोगुण की अपेक्षा सत्त्व गुण अधिक होता है उन्हें सतोगुणी कह सकते हैं। सतोगुणी व्यक्ति की श्रद्धा भी सतोगुणी होती है (अध्याय 17)। गीता के अध्याय 17 के अनुसार सभी मनुष्य तीन श्रेणियों में बंटे हैं – सत्त्वगुणी, रजोगुणी व तमोगुणी। सत्त्वगुणी श्रद्धा वाले देवों को पूजते हैं, राजसी यक्ष और राक्षसों को तथा तामसी भूतगणों को।

गीता एक ऐसा शास्त्र है जो हमें पाठ पढ़ाता है साधारण जीवन जीने का, साधारण व व्यावहारिक नियमों का पालन करते हुए जीवन को सफल बनाने का तथा ईश्वर को प्राप्त करने का भी। अध्याय 17 के श्लोक 5 व 6 में घोर तप को तपने का तथा अनावश्यक रूप से शरीर को कष्ट देने का स्पष्ट शब्दों में निषेध किया गया है। यहाँ तीन प्रकार की क्रियाओं का वर्णन इसलिये किया गया है जिससे हम आत्म-विश्लेषण करके सही राह चुन सकें। यहाँ बताया गया है कि सात्त्विक, राजसी व तामसी भोजन किस प्रकार के होते हैं जिससे हम राजसी व तामसी भोजन को त्याग सकें। इसी उद्देश्य से तप की सही परिभाषा बताई गई है। दान के भी तीन प्रकार बताये गये हैं।

अध्याय 18 में तो तीन प्रकार के ज्ञान, तीन प्रकार के कर्म, तीन प्रकार के कर्ता, बुद्धि, धृति एवं सुखों का वर्गीकरण किया गया है। 19 से 40 तक के श्लोक पढ़ने मात्र से इसका आशय समझा जा सकता है जिन्हें किसी विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है तो केवल मनन करने की तथा अपने जीवन में उतारने के संकल्प की।

❖ ❖ ❖

गीता और संन्यास

जिसने गीता को नहीं पढ़ा अथवा केवल पाठ करने के उद्देश्य से पढ़ा है वे प्राय: कह दिया करते हैं कि गीता युवाओं के पढ़ने के लिये नहीं है क्योंकि गीता पढ़ने से संसार छोड़कर संन्यास लेने की प्रेरणा मिलती है अथवा व्यक्ति कर्तव्य से विमुख होकर विरक्त या वैरागी हो जाता है। परिवार, घर-बार छोड़ बैठता है, काम धन्धा सब छोड़ देता है। किन्तु जिसने गीता को थोड़ा भी समझा है वह जानता है कि गीता तो इसके विपरीत कर्तव्य करने को प्रेरित करती है। जब अर्जुन धनुष-बाण त्यागकर युद्ध से विरत हो जाता है तभी गीता का जन्म होता है। उसी अवसर पर गीतोपदेश के साधन से भगवान् कर्मयोग का उपदेश देकर अर्जुन को युद्ध में लगाते हैं।

'संन्यास' शब्द का प्रयोग तो गीता में अनेक स्थानों पर हुआ है किन्तु उसकी परिभाषा अलग है। जब अध्याय 4 के श्लोक 41 में भगवान् **'योगसन्यस्त कर्माणं'** शब्द का प्रयोग करते हैं तो अर्जुन समझता है कि भगवान् कर्मों को छोड़ने के लिये कह रहे हैं। इसीलिये पंचम अध्याय के पहले श्लोक में अर्जुन प्रश्न कर देता है –

'संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि'

अर्थात् आप कर्मों के संन्यास की प्रशंसा भी कर रहे हैं और साथ ही कर्मयोग की। यहाँ भगवान् ने समझाया है कि अर्जुन, जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है, न आकांक्षा करता है वह राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित पुरुष संन्यासी ही समझने योग्य है (अध्याय 5 श्लोक 3)। फिर श्लोक 6 में समझाया कि कर्मयोग के बिना संन्यास का साधन कठिन है।

अध्याय 3 में भगवान् बता चुके हैं कि केवल कर्मों के त्याग से सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती और न ही कर्मों का पूर्ण त्याग सम्भव है क्योंकि कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता (3/5) और जो हठपूर्वक समस्त इन्द्रियों को रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी कहा जाता है।

अध्याय 6 के श्लोक 1 में भी संन्यासी को परिभाषित करते हुए कहा है –

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

श्लोक 3 में पुनः कहा गया है कि योगारूढ़ होने के लिये निष्काम भाव से कर्म करना आवश्यक है न कि कर्मों का त्याग। यदि संन्यास का अर्थ त्याग भी लगाया जाये तो वह त्याग है समस्त कामनाओं का, सब प्रकार की आसक्ति का, ममता का, सांसारिक वस्तुओं से मोह का, राग और द्वेष का। भगवान् ने तो यहाँ तक कह दिया कि अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है, जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर, अर्थात् इन सब का मुझमें संन्यास कर (9/27)।

ऐसा ही भाव गोस्वामी तुलसीदास ने मानस में व्यक्त किया है –

जननी जनक बंधु सुत दारा।
तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी।
मम पद मनहि बाँध बरि डोरि॥

उल्लेखनीय है कि सब सम्बन्धियों की ममता का त्याग करने को कहा है न कि सम्बन्धियों का।

गीता के अध्याय 12 में भक्तों के लक्षण बताते हुए भी भगवान् ने कर्मों के फल के त्याग को सर्वश्रेष्ठ बताया है। साथ ही ममता, अहंकार, द्वेषभाव व स्वार्थ के त्याग पर भी जोर दिया है, मन और बुद्धि भगवान् को अर्पित करने की बात कही है। अध्याय 13 में श्रेष्ठता के अभिमान का त्याग (अमानित्वम्), दम्भाचरण का त्याग (अदम्भित्वम्) पुत्र, स्त्री, घर, धन आदि में आसक्ति व ममता का त्याग – इन सबको ज्ञान की श्रेणी में रखा है किन्तु कहीं भी कर्मों को त्यागने की बात नहीं कही गई है।

संन्यास और त्याग के विषय में इतना सब सुनने के पश्चात् अध्याय 18 में अर्जुन इन दोनों तत्त्वों को पृथक-पृथक जानना चाहता है क्योंकि इन दोनों शब्दों का प्रयोग कहीं-कहीं पर्याय के रूप में हुआ है। भगवान् समझ रहे हैं कि अर्जुन अपने मन में अब भी यही सोच रहा है कि संन्यास का अर्थ कर्मों का त्याग करना है। इसी बात को ध्यान में रखकर भगवान् संन्यास के विषय में अलग-अलग धारणाएँ बताते हैं जिसमें सम्भवतः अर्जुन की धारणा भी शामिल है। भगवान् कहते हैं कि कुछ विद्वान काम्य कर्मों के अर्थात् कामना पूर्ति के लिये किये जाने वाले कर्मों के त्याग को संन्यास समझते हैं तो दूसरे विचारवान् पुरुष सब कर्मों के फल के त्याग को। कुछ विद्वान ऐसे हैं जो कहते हैं कि सभी कर्म दोषयुक्त हैं, अतः त्यागने योग्य हैं और दूसरे विद्वान कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं। भगवान् अपना मत बताते हैं कि वास्तव में यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने के योग्य नहीं हैं बल्कि ये तो अवश्य करणीय हैं। हाँ इन कर्मों में आसक्ति का, कर्तृत्व के अभिमान का त्याग अवश्य करना चाहिये और वही त्याग वास्तव में संन्यास अथवा त्याग होता है न कि सभी कर्मों का त्याग।

इस सम्बन्ध में एक और स्पष्टीकरण भी अध्याय 18 के श्लोक 48 में दिया गया है –

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

अर्थात् दोषयुक्त होने पर भी सहज कर्म को नहीं त्यागना चाहिए क्योंकि समय, स्थान व परिस्थिति के अनुसार जो कर्तव्य बनता है उसको तो करना आवश्यक है। इस प्रकार से कर्तव्य का निर्वाह करने वाले व्यक्ति को पाप नहीं लगता।

❖ ❖ ❖

नियतं कुरु कर्म त्वं

गीता एक अति विशिष्ट शास्त्र है। जो ज्ञान स्वयं भगवान् के श्रीमुख से निसृत हुआ हो वह विशिष्ट तो होगा ही। इसकी विशिष्टता यह भी है कि यह द्वापर युग के अन्त में कहा गया था और इस बात को ध्यान में रखा गया था कि आगामी युग (कलियुग) में लोगों की आयु तो कम होगी ही, आत्म-कल्याण के लिये जागरूकता भी कम होगी और समय भी कम होगा। साथ ही भोग-विलास में आकर्षण अधिक होगा, कर्म-काण्ड (पाखण्ड) का विस्तार अधिक होगा। पूजा-पाठ का एकमात्र उद्देश्य रह जायेगा निजी स्वार्थ की पूर्ति और येन-केन प्रकारेण क्षणिक भौतिक सुखों की प्राप्ति। ऐसे युग के लिये आत्म-कल्याण की जो सरल विधि भगवान् ने अर्जुन को माध्यम बनाकर सारे संसार को प्रदान की वह अत्यन्त उपयोगी और वाँछनीय थी। भगवान् भलीभाँति जानते थे कि वेदों, उपनिषदों व आध्यात्मिक गुरुओं का लोप होने वाला है, इसलिये उपनिषदों का सार संक्षेप में संजोकर रख दिया। गीता को भली प्रकार समझने पर अन्य किसी शास्त्र की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

गीता में आत्म-कल्याण अथवा ईश्वर प्राप्ति के मुख्यतः तीन मार्ग बताये गये है – कर्म योग, ज्ञान योग तथा भक्ति योग। जिसकी जिस योग में निष्ठा हे, उसी का सहारा लेकर वह आगे बढ़ सकता है परन्तु ज्ञान योग व भक्ति योग में जाने के लिये भी कर्म योग का आश्रय तो लेना ही पड़ता है क्योंकि कर्म के बिना तो कोई भी कार्य सम्भव ही नहीं है। यही कारण है कि गीता का कोई भी अध्याय कर्म योग से अछूता नहीं है।

कर्म योग का प्रारम्भ गीता के श्लोक 2/47 से होता है जिसमें कहा गया है –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(2/47)

अर्थात् कर्म करने में तेरा अधिकार है, फल में कदापि नहीं। साथ ही कहा गया –

मा ते सङ्गोऽस्तु अकर्मणि।

अर्थात् कर्म करना तेरा कर्तव्य भी है। तुझे अकर्मण्य नहीं होना है। फल में अधिकार नहीं है का अर्थ यह नहीं है कि फल मिलेगा नहीं। मनुस्मृति में कहा गया है –

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

गीता में कहा गया है –

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥

(18/12)

अर्थात् कर्मों का फल तो मरने के पश्चात् अगले जन्म में भी भोगना पड़ेगा। तो सन्देश क्या है – कि कर्म तो करने ही हैं पर नेक कर्म करने हैं, शुभ कर्म करने हैं, नियत कर्म करने हैं –

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥

(3/8)

अब प्रश्न होता है कि शास्त्रविहित कर्म कौन से हैं। यही प्रश्न तो गीता का मुख्य विषय है। यही तो उलझन थी जिसको सुलझाने के लिये भगवान् को पूरी गीता कहनी पड़ी। युद्ध में सामने खड़े

सगे-सम्बन्धियों को देखकर अर्जुन सहसा किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है कि इनको युद्ध में मारना श्रेयस्कर होगा अथवा युद्ध छोड़कर भिक्षा का अन्न खाना। अर्जुन ने सुन रखा था कि गुरुजनों की हत्या करने से घोर पाप का भागी होना पड़ता है। धनुष-बाण त्यागकर रथ के पिछले भाग में बैठ जाता है, कहता है – युद्ध नहीं करूँगा।

यहाँ भगवान् को विस्तार से समझाना पड़ता है कि वास्तव में पाप क्या है, पुण्य क्या है, कर्तव्य क्या है, अकर्तव्य क्या है। अर्जुन को यह जानकर विस्मय होता है कि युद्ध के मैदान में प्रतिद्वन्द्वियों को मारने से पाप नहीं लगेगा बल्कि युद्ध छोड़ कर भागने से पाप लगेगा।

प्रायः ऐसी ही परिस्थितियों का सामना प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में करना पड़ता है जहाँ यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि क्या करूँ, क्या न करूँ। इस विषय में गीता के अध्याय 16 में पर्याप्त मार्गदर्शन प्राप्त होता है जिसमें दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा वाले मनुष्यों के कार्यों का विभाजन किया गया है। अध्याय 14, 17 व 18 में भी सात्त्विकी, राजसी व तामसी कार्यों का विभाजन किया गया है किन्तु मूलभूत सिद्धान्त यह है कि ईश्वर ने मनुष्यों को उनकी योग्यता, कर्म व अधिकार के अनुसार अलग-अलग परिस्थितियों में रखा है। उन्हीं परिस्थितियों के अनुरूप उनके कर्तव्यों का निर्धारण होता है। अर्जुन एक क्षत्रिय है और परिस्थिति है युद्ध की। तो इस परिस्थिति के अनुसार प्रतिपक्ष में खड़े सभी योद्धा शत्रु हैं और वध के योग्य हैं चाहे वे सगे-सम्बन्धी, गुरुजन हों या पितामह इत्यादि हों। उनको मारना ही कर्तव्य है।

गीता में भगवान् ने बताया है कि मानव-समुदाय को गुण और कर्मों के आधार पर चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है –

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

(4/13)

और ये वर्ण या जाति हैं –

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

(18/41)

ये चार वर्ण हैं – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनके कर्तव्य स्वभाव से उत्पन्न गुणों के द्वारा विभक्त किये गये हैं। आगामी तीन श्लोकों में इनके स्वाभाविक कर्म बताये गये हैं –

1. **ब्राह्मण** – अन्तःकरण का निग्रह (शम); इन्द्रियों का दमन (दम); धर्म पालन के लिये कष्ट सहना (तप); बाहर भीतर से शुद्ध रहना (शौच); दूसरों के अपराधों को क्षमा करना (क्षान्ति); मन, इन्द्रिय और शरीर को सरल रखना (आर्जवम्); वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक में श्रद्धा रखना (आस्तिकता); वेद, शास्त्रों का अध्ययन, अध्यापन (ज्ञान); परमात्मा के तत्व का अनुभव करना (विज्ञान)।
2. **क्षत्रिय** – शूर-वीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में न भागना, दान देना और स्वामिभाव।
3. **वैश्य** – खेती, गोपालन और क्रय-विक्रय में सत्य-व्यवहार।
4. **शूद्र** – सब वर्णों की सेवा करना।

इन सबके कर्तव्य निश्चित करने के बाद कहा कि ये कर्तव्य ही इनके अपने-अपने धर्म हैं, स्वभाव हैं और स्वभाव से नियत किये हुए कर्म करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता (18/47)।

व्यावहारिक दृष्टि से भी देखा जाये तो सारा मनुष्य समुदाय एक जैसा कर्म नहीं कर सकता। रिक्शा-चालक यदि वायुयान उड़ाना चाहे तो यह कार्य उसके लिये असम्भव है। इसी प्रकार खेत में हल चलाने वाला किसान वातानुकूलित कार्यालय में बैठकर कार्य नहीं कर सकता। और तो और, डॉक्टर, इंजीनियर, अध्यापक, चार्टर्ड अकाउंटेंट, न्यायाधीश – कोई भी एक दूसरे का कार्य नहीं कर

सकते। और न ही ऐसा करने से सृष्टि का संचालन सम्भव है। यदि सभी लखपति हो जायें, भवनों, दुकानों, कारों के मालिक हो जायें तो मकान कौन बनायेगा, फैक्ट्री कौन बनायेगा, कपड़ा कौन बुनेगा – आदि–आदि।

इन सबके अतिरिक्त करणीय और अकरणीय के सम्बन्ध में कुछ नियम ऐसे भी हैं जो सब पर लागू होते हैं। भगवान् ने सभी को श्रेष्ठ कर्म करने का आदेश दिया है और साथ ही दुष्कर्मों को त्यागने का भी। करणीय कर्मों में मुख्यतः तीन कर्म बताये हैं – यज्ञ दान और तप।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

(18/5)

यज्ञ का अर्थ चतुर्थ अध्याय में भली प्रकार समझाया गया है।

साधारण भाषा में अग्नि में, हवन कुण्ड में डालकर भस्म कर देने को यज्ञ कहा जाता है। जो कुछ भी हवन कुण्ड में डाला जाता है वह देवताओं के प्रति अर्पित करना होता है, त्याग करना होता है। अध्याय 4 के श्लोक 19 में कहा गया है कि जिसके सम्पूर्ण कर्म बिना कामना और संकल्प के होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुष को ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं। अर्थात् जो ज्ञानी है, उसके कर्म भगवान् को ही समर्पित होते हैं, ऐसे कर्म फलदायक नहीं होते, वे वास्तव में अकर्म होते हैं। जो कुछ भी हवन कुण्ड में डाला जाता है, वह अपना तो रहता ही नहीं। यही बात कर्मों के साथ है। अर्थात् श्रेष्ठ कर्म करो और ईश्वर को अर्पित कर दो।

दूसरा करणीय कर्म बताया है तप। अध्याय 17 में बताया गया है कि तप शरीर, वाणी और मन से किया जाता है जो संसार में रहकर ही किया जाता है। देवता, ब्राह्मण, गुरुजनों व ज्ञानीजनों का

पूजन पवित्रता, सरलता और अहिंसा – ये शरीर-सम्बन्धी तप बताये गये हैं।

वाणी-सम्बन्धी तप है – दूसरों को उद्वेग पहुँचाने वाली वाणी से परहेज़, प्रिय, हितकारक एवं सत्य भाषण तथा सदाचार सम्बन्धी शास्त्रों का अध्ययन।

मन से प्रसन्न रहना (द्वेष भाव का अभाव), शान्त भाव में रहना, भगवान् का चिन्तन करते रहना, मन का निग्रह अर्थात् कुविचारों को मन में न आने देना और अन्तःकरण के भावों की भलीभाँति पवित्रता अर्थात् राग द्वेष से सर्वथा रहित होना – यह सब मन-सम्बन्धी तप कहलाता है।

तीसरा करणीय कर्म है दान – सात्त्विक दान। सात्त्विक दान ही करणीय है, राजसी और तामसी नहीं।

सात्त्विक दान वह होता है जो निष्काम भाव से किया जाता है, दान देना ही कर्तव्य है – यह सोचकर किया जाता है, जो कुछ है सब भगवान् का है, मेरा कुछ भी नहीं है – इस भाव से किया जाता है, मान, बड़ाई, यश, कीर्ति के उद्देश्य से नहीं किया जाता, जहाँ, जिस समय जिस वस्तु की आवश्यकता हो उसी की पूर्ति के लिये किया जाता है, दान लेने वाले से प्रत्युपकार की सम्भावना ही न हो ऐसे व्यक्ति को दिया जाता है – वह होता है सात्त्विक दान जो करणीय बताया गया है।

जिन दुष्कर्मों से बचने की या त्यागने की आज्ञा दी है वे हैं –

मिथ्या भाषण, दम्भाचरण, कटु वाणी, कठोरता, पाखण्ड, घमण्ड, शत्रुता, द्वेष, राग, सबका अपकार करना, भोग विलास में लिप्त रहना, दूसरे की आजीविका का नाश करना, स्वयं को दूसरों से श्रेष्ठ समझना, भ्रष्ट आचरण, न पूर्ण होने वाली कामनाओं का पालना, काम व क्रोध के वश में होना, सांसारिक लोगों से आशा व अपेक्षा रखना, दूसरों की निन्दा करना, चोरी करना, हत्या करना, किसी प्रकार का भी शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट देना – ये सब निषिद्ध हैं।

भगवान् ने यह भी कहा है कि सत्कर्म करने वाले और दुष्कर्मों को त्यागने वाले ही मेरे भक्त हो सकते हैं, दुष्कर्म करने वाले कदापि नहीं। अतः दुष्कर्मों से बचना और सत्कर्म में लगना ही मानव का परम कर्तव्य है।

ईश-प्रदत्त साधन व उनका उपयोग

ज़रा सोचिये! आपने अपने नौकर को एक हजार रुपये देकर कहा कि इसमें से सौ रुपये अपने खाने-पीने पर खर्च करके शेष नौ सौ रुपयों से आटा, चीनी व चावल खरीदकर गुरुद्वारे में दे आना जहाँ प्रतिदिन गरीबों को मुफ्त भोजन कराया जाता है। वह नौकर देर रात लड़खड़ाते हुए कदमों से घर लौटता है और नशे में धुत होने के कारण सच बोल देता है कि उसने सारा धन मौज-मस्ती में अपने ही ऊपर खर्च कर डाला। ऐसे में क्या आप उसे बिना दण्डित किये छोड़ देंगे? नहीं न? क्यों? क्योंकि उसने आपके द्वारा प्रदत्त धनराशि का दुरुपयोग किया जबकि सदुपयोग और दुरुपयोग करने की उसे पूरी छूट थी।

ज़रा सोचिये! कहीं हम लोग भी ऐसा ही अपराध तो नहीं कर रहे? क्या हमारे पास जो कुछ भी है वह मालिक का दिया हुआ नहीं है? और क्या हम उस मालिक के दिये हुए सब-कुछ का सदुपयोग कर रहे हैं? या फिर दुरुपयोग ही कर रहे हैं? आइये हम ज़रा गहराई से विश्लेषण करें।

सर्वप्रथम अपने शरीर को ही लें। भगवान् ने जो नेत्र दिये हैं वे सन्मार्ग पर चलने के लिये दिये हैं, आध्यात्मिक साहित्य पढ़ने के लिये दिये हैं, स्वाध्याय करने के लिये दिये हैं। यदि हम ऐसा न करके गन्दे दृश्य देखते हैं, गन्दा साहित्य पढ़ते हैं, किसी पर कुदृष्टि डालते हैं, आँखें दिखाकर दूसरों को डराते हैं तो यह दुरुपयोग करना है। इसी प्रकार कानों से अपनी प्रशंसा सुनते हैं, दूसरों की बुराई सुनते हैं, गीता, रामायण भागवत आदि नहीं सुनते हैं तो यह कर्णेन्द्रियों का दुरुपयोग हुआ।

इसी प्रकार हम अपनी दसों इन्द्रियों द्वारा सत्कर्म करके उनका सदुपयोग या दुरुपयोग – कुछ भी कर सकते हैं। जब हम इन्द्रियों के दुरुपयोग की बात करते हैं तो गीता के अनुसार निष्क्रियता भी दुरुपयोग है। निष्क्रियता की गीता के अध्याय 3 में पर्याप्त भर्त्सना की गई है। श्लोक 8 में स्पष्ट कहा गया है कि अर्जुन! तू शास्त्रविहित कर्तव्य कर्म कर क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः॥

श्लोक 14-15 में कहा गया है कि सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है, वृष्टि यज्ञ से होती है और यज्ञ विहित कर्मों से उत्पन्न होने वाला है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

श्लोक 16 में कहा गया है कि जो पुरुष अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता, केवल इन्द्रियों के द्वारा भोगों में रमण करता है वह पापायु व्यर्थ ही जीता है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

इन्द्रियों के दुरुपयोग की श्रेणी में पापाचार व पद का दुरुपयोग अर्थात् घूसखोरी भी आता है। ज़रा सोचें जिस पुलिस अधिकारी अथवा न्यायाधीश को न्याय की रक्षा हेतु नियुक्त किया गया है वही यदि घूस लेकर अपराधी की रक्षा करने लगे अर्थात् रक्षक ही भक्षक बन

जाये तो क्या वह देश व समाज को अपरिमित हानि नहीं पहुँचाता है और इस प्रकार वह विशेष दण्ड का भागी नहीं होगा? ऐसे व्यक्ति भूल जाते हैं कि ईश्वर सर्वव्यापी है।

गीता के अध्याय 13 के श्लोक 13 में कहा गया है कि वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह संसार में सबको व्याप्त करके स्थित है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

वह हर समय हर जगह सब कुछ देखता रहता है।

इसके अतिरिक्त जो कुछ भी धन-सम्पत्ति, मकान-दुकान, वस्त्र-आभूषण, कुटुम्ब-परिवार हमें मिला है सब उस परमपिता परमेश्वर ने कृपा करके उन सबका सदुपयोग करने के लिये दिया है। धन का सदुपयोग सात्त्विक दान, दीन-दुखियों की सहायता करने से ही होता है। ऐसा न करने से धन या तो हमारे विनाश का कारण बनता है या हमारे मरने पर नष्ट हो जाता है।

यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी होगी कि अपनी नेक कमाई में से किया गया दान ही सात्त्विक होता है। कुछ लोग मनौती मान लेते हैं कि उल्टे-सीधे गैर-कानूनी, समाज-विरोधी कार्य करके, खाने-पीने की वस्तुओं में मिलावट करके या नकली-दवाओं का उत्पादन करके (जो जानलेवा होती हैं), या तस्करी करके, चरस-गांजे का व्यापार करके, जमाखोरी करके जो कमाई होगी, उसका एक भाग किसी देवी-देवता की प्रतिमा पर सोने के आभूषण चढ़ा कर प्रयोग कर लेंगे, ऐसा दान कभी सात्त्विक नहीं हो सकता। उल्टे वह धन का दुरुपयोग होगा।

अब ज़रा सूक्ष्मता से विचार करें कि जो कुछ भी भगवान् ने कृपा करके हमें दिया है उसमें सबसे मूल्यवान क्या है? सबसे मूल्यवान

है समय। क्योंकि जीवन की अवधि निश्चित है, वह पल-पल घटती जाती है और जो समय बीत जाता है वह पलट कर नहीं आता। अन्य वस्तुओं के साथ ऐसा नहीं है। जिस पल का भी सदुपयोग हमने नहीं किया, आलस्य या प्रमाद में बिता दिया, वह हमने नष्ट कर दिया, अत्यन्त मूल्यवान वस्तु को खो दिया और इस प्रकार भगवान् के दिये हुए इस अमूल्य उपहार का दुरुपयोग किया। रात्रि-दिवस के एक चक्र में सभी को चौबीस घंटों का बराबर समय मिला है। इसमें से हम कितने का सदुपयोग करते हैं और कितने का दुरुपयोग – यह पूर्णतया हमारे हाथ में है।

अब रह जाता है अहंकार। कहा जाता है कि भगवान् ने हमारे उपयोग के लिये सभी चीजें बहुत अच्छी दी हैं किन्तु अहंकार देकर बहुत गड़बड़ कर दी। क्योंकि अहंकार से बचना बहुत कठिन है, बड़े-बड़े तपस्वी ऋषि-मुनि भी इसका शिकार होते देखे गये हैं और यही हमारे पतन का कारण होता है। परन्तु इसका एक दूसरा पहलू भी है – वह है सात्त्विक अहंकार। सात्त्विक अहंकार ही हमारे जीव-रूप में अस्तित्त्व का कारण है। अहंकार के कारण ही जीव ईश्वर से भिन्न है। अहंकार रहित होते ही जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है, उसका अस्तित्व अलग रहता ही नहीं। जो अहंकार पतन का कारण होता है वह बुद्धि के दुरुपयोग के कारण होता है। विनम्रता के सहज स्वाभाविक गुण को छोड़ने के कारण होता है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में एक स्थान पर लिखा है –

अस अभिमान जाइ जनि भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

अभिमान या अहंकार तब अवांछित होता है जब वह शरीर अथवा शरीर से सम्बन्धित किसी वस्तु का होता है। यदि जीव भाव में

स्थित होकर सोचें कि मैं ईश्वर का अंश हूँ, परमात्मा का सच्चा पुत्र हूँ, मैं शुद्ध आत्मा हूँ, पवित्र आत्मा हूँ, शक्तिशाली आत्मा हूँ, ईश्वर के सभी गुण मुझ में भी हैं, तो वह अहंकार स्वागत योग्य है। ईश्वर से प्रार्थना करें कि ऐसा अभिमान हम में जागृत करे और शारीरिक अहं से बचाये।

❖ ❖ ❖

क्या खोया क्या पाया

एक नगरी है जिसमें एक विचित्र प्रथा प्रचलित है जिसके अनुसार किसी शुभ दिन को नगरी की सीमा पर प्रातः काल में नगरी के चार प्रतिष्ठित व्यक्ति खड़े हो जाते हैं और सीमा के पास से जो भी व्यक्ति गुजरता हुआ दिखाई पड़ता है उसे पकड़कर नगरी का राजा बना देते हैं और पुराने राजा को, उससे सब कुछ वहीं रखवा कर खाली हाथ नगर की सीमा से बाहर कर देते हैं। नये राजा के साथ भी एक वर्ष और दो वर्ष की अवधि के बीच में वही व्यवहार किया जाता है जो उससे पूर्व के राजा के साथ किया गया था। वह बेचारा रोता-बिलखता, अपने भाग्य को कोसता हुआ अपने अनिश्चित भविष्य की चिन्ता करता हुआ नगर छोड़कर चले जाने पर विवश होता है। यही विचित्र परम्परा सदियों से चली आ रही है।

एक बार ऐसा हुआ कि निर्वासित किये जा रहे राजा को जब नगर के बाहर ले आया जा रहा था तो लोगों ने देखा कि उस व्यक्ति के चेहरे पर दुःख के कोई भाव नहीं हैं, वह पहले की भाँति प्रसन्न मुख और उल्लसित दिख रहा है। कारण पूछने पर उसने बताया कि उसने अपने राज्य की अवधि में नगर की सीमा के पार पहले ही पर्याप्त साधन एकत्रित कर लिये थे क्योंकि वह जानता था कि एक दिन उसे यह राज्य और नगरी त्यागनी पड़ेगी।

यही दशा हम लोगों की है। हजारों में कोई एक यह बात सोच पाता है कि उसे एक दिन सब कुछ छोड़कर जाना है, शेष लोग भी जाते तो हैं ही लेकिन भोग-विलास में इतने लिप्त रहते हैं कि अगले जीवन के बारे में सोचने की फुर्सत ही नहीं मिलती। परिणाम – रोते-बिलखते जाना पड़ता है।

थोड़े से विवेक का प्रयोग करें, मनन करें कि हमने अब तक के जीवन में क्या खोया और क्या पाया, तथा क्या अगले जन्म के लिये संग्रह किया। जो हम सब व्यावहारिक जीवन में करते हैं, क्या हम उसे आध्यात्मिक जीवन में लागू नहीं कर सकते? ज़रा विश्लेषण करें – जब हम विद्यार्थी थे तो वर्ष भर पढ़ाई करके वर्ष के अन्त में उसके बदले परीक्षा में उत्तीर्ण होकर अगली उच्च कक्षा में पहुँचते थे अर्थात् वर्ष के अन्त में उस अवधि में किये गये निवेश का आकलन तो हुआ। इसी प्रकार कक्षा दर कक्षा पार करते हुए बारह वर्ष के निवेश का परिणाम कॉलेज में प्रवेश पाने की पात्रता हुआ। इसके बाद नौकरी की तो पद-प्रतिष्ठा में वृद्धि पाते गये, प्रति वर्ष वेतन-वृद्धि तो होती ही है। यदि व्यापारिक प्रतिष्ठान है तो प्रत्येक वर्ष के अन्त में तुलन-पत्र बना कर देखा जाता है कि गत वर्ष में क्या खोया और क्या पाया तथा आगामी वर्ष में त्रुटियों को सुधार कर और अधिक प्रगति करने की योजना बनाई जाती है।

यह सब करते-करते एक दिन जीवन का अन्तिम दिवस आ जाता है और सहसा आभास होता है कि जीवन का तुलन-पत्र तो हमने बनाया ही नहीं। कभी सोचा ही नहीं कि इस जीवन में हमने कितने पाप कमाये और कितने पुण्य जो हमारे साथ जाने वाले हैं क्योंकि ऊपर दिये गये दृष्टान्त की भाँति सब कुछ यहीं रखवा कर हमें धक्के मार कर नगर से बाहर कर दिया जायेगा। यदि विवेक से काम लिया होता तो समझदार राजा की तरह नगर की सीमा के बाहर सम्पत्ति बना ली होती। अब तो रोते-रोते ही जाना पड़ेगा। तो, पुण्यों की पूँजी अभी से एकत्रित करना आरम्भ करने में ही समझदारी है।

यह तो हुई आसानी से समझ में आने वाली बात। अब तनिक इसी बात को गीता की दृष्टि से समझने की चेष्टा करते हैं। गीता के अनुसार मनुष्य अपने आगामी जन्म का निर्णय इसी जन्म में स्वयं करता है। अध्याय 15 के श्लोक 8 में बताया गया है कि देह का स्वामी जीवात्मा सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन और इन्द्रियों सहित अन्त:करण को लेकर अन्य शरीर को प्राप्त करता है। या कहें कि

हमने जो कुछ अपने अवचेतन मन में जमा करके रखा है उसी के आधार पर अगला जन्म मिलने वाला है। और वह कैसे जायेगा – यह भी बताया है – जैसे वायु गन्ध को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

अध्याय 8 के श्लोक 6 में भी यही बात दूसरे शब्दों में बताई गई है –

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य अन्त काल में जिस भाव को स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है उस को ही प्राप्त होता है और अन्त काल में उसी भाव में स्थित होगा जिसमें पूरे जीवन-भर रहा है।

यही भाव अध्याय 14 के श्लोक 14 व 15 में दूसरे शब्दों में व्यक्त किया गया है –

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥

जब मनुष्य सत्त्वगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है तो स्वर्गादि लोकों को प्राप्त होता है, रजोगुण के बढ़ने पर मृत्यु को प्राप्त होकर कर्मों की आसक्ति वाले मनुष्य में उत्पन्न होता है तथा तमोगुण के बढ़ने पर मरा हुआ मनुष्य मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है। साथ में यह भी कह दिया कि जिस समय पुरुष दृष्टा भाव

में स्थित हुआ तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।

सारांश यह है कि हम एक अवधि निश्चित करके नियमित रूप से स्वयं का आकलन करते रहें कि इस अवधि में हमने कितने पाप अर्जित किये और कितने पुण्य। इसके अतिरिक्त पाप और पुण्य से भी ऊपर ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में कितने अग्रसर हुए, कितना समय सत्संग में लगाया, कितना नाम-जप में। यह प्रार्थना तो हर समय करते ही रहें – ईश्वर हमारी बुद्धि को श्रेष्ठ मार्ग पर चला।

जय श्री राम।

❖ ❖ ❖

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः

गीता के अध्याय 2 के श्लोक 27 में कहा गया है –

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

अर्थात् जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है और जिसकी मृत्यु हुई है उसका जन्म निश्चित है। गीता में कोई भी बात ऐसी नहीं कही गयी है जो व्यवहार की कसौटी पर खरी न उतरती हो या केवल अर्जुन के लिये कही गयी हो अथवा केवल संन्यासियों के लिये, ज्ञानी ध्यानियों के लिये कही गयी हो।

उपरोक्त सूत्र पर थोड़ा सा विचार करें तो स्थिति स्पष्ट हो जायेगी। दुनियां में प्रत्येक वस्तु व स्थिति परिवर्तनशील है। मृत्यु का अर्थ है जो वस्तु पहले थी वह अब उस रूप में नहीं है। है किन्तु उसका रूप बदल चुका है। जिसको हम मरा हुआ समझते हैं वह अब भी है किन्तु अब वह निश्चेष्ट है, हिलता नहीं है, बोलता नहीं है। इसी प्रकार क्या हमारा शरीर जो बचपन में था, आज वैसा ही है? नहीं। यह पूर्णतः परिवर्तित हो चुका है। क्या यह परिवर्तन होते हुए हमने देखा? नहीं, किन्तु हुआ तो है। तो देखा क्यों नहीं? क्योंकि उस प्रक्रिया की गति इतनी धीमी थी कि वह मानव नेत्रों की पकड़ने की क्षमता से परे है। घड़ी में सैकंड की सुई चलती हुई दिखती है, घंटे की नहीं दिखती, जबकि चलती दोनों ही हैं, केवल गति का अन्तर है। इसी प्रकार हमारी आयु जो कल थी वह आज नहीं है, उसमें एक दिन का परिवर्तन हो चुका है। सृष्टि में यदि कुछ स्थिर है, अपरिवर्तनशील है तो वह केवल परब्रह्म परमात्मा है। इसीलिये उसे नित्य, अविनाशी कहते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि मृत्यु होती कैसे है? गीता के अध्याय 15 के श्लोक 7 व 8 में इसका उत्तर मिलता है –

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

जहाँ भगवान् बताते हैं कि इस देह में यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है और वही प्रकृति में स्थित मन और पाँचों इन्द्रियों को आकर्षण करता है तथा वायु जैसे गन्ध के स्थान से गन्ध को ले जाता है वैसे ही जीवात्मा भी जिस शरीर का त्याग करके जाता है उससे मन सहित इन्द्रियों को ग्रहण करके नये शरीर में ले जाता है। अर्थात् प्रकृति का चेतन अंश और जड़ अंश अलग हो जाते हैं तो वह मृत्यु कहलाती है।

गीता के सातवें अध्याय के पाँचवे श्लोक में भगवान् बता चुके हैं कि मेरी दो प्रकृतियाँ हैं – एक अपरा अर्थात् जड़ और दूसरी परा अर्थात् जीव।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

इसके बाद छठे श्लोक के पूर्वार्ध में बतलाया कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पन्न होने वाले हैं। अर्थात् इन दोनों के संयोग से सृष्टि की रचना होती है और वियोग से प्रलय।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

अब प्रश्न उठता है – मृत्यु होती क्यों है? ऊपर किये गये विश्लेषण से स्पष्ट हो गया होगा कि मृत्यु तो होती ही नहीं है,

केवल जीव और शरीर का वियोग होता है। परन्तु यह वियोग होता ही क्यों है? हम जान चुके हैं कि परिवर्तन संसार का नियम है। यदि मृत्यु न हो तो वह स्थिति कल्पनातीत है। यदि केवल जन्म होता रहे, मृत्यु न हो तो पृथ्वी पर पैर रखने की जगह ही न बचे, यह जीवन जीने योग्य ही न बचे। शरीर जर्जर हो जाये; जो दुःख मृत्यु भुला देती है वे कभी भूलें ही नहीं, दुःखों का पहाड़ खड़ा हो जाये। यही कारण है कि सृष्टि के इतिहास में ऐसा कुछ भी देखने को नहीं मिलता जो सदैव रहा हो (भगवान् के अतिरिक्त)। यहाँ तक कि भगवान् ने स्वयं भी जो अवतार धारण किये हैं वे भी सदा नहीं रहे।

अब प्रश्न है कि यदि जड़ शरीर यहीं रह जाता है तो चेतन जीव, जो मरता नहीं है वह जाता कहाँ है? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि जिस-जिस भाव में जीव मृत्यु के समय स्थित होता है – उसी में जाता है। गीता अध्याय 8 श्लोक 6 –

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

जिसके अनुसार मनुष्य अन्तकाल में जिस-जिस भाव को स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, अगला जन्म उसी भाव वाले शरीर में होता है।

गीता के अध्याय 14 के श्लोक 14 व 15 में भी स्पष्ट कहा गया है कि जब यह मनुष्य सत्त्वगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है तब तो उत्तम करने वालों के निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोगों को प्राप्त होता है। रजोगुण के बढ़ने पर मृत्यु को प्राप्त होकर कर्मों की आसक्ति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है तथा तमोगुण के बढ़ने पर मरा हुआ मनुष्य मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥

तो फिर ईश्वर को अर्थात् मुक्ति को कब प्राप्त होता है? गीता के आठवें अध्याय के श्लोक 5, 7, 8 व 10 में इसकी युक्ति बतायी गयी है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

जो पुरुष अन्तकाल में मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता हैख वह मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है – इसमें कुछ भी संशय नहीं है। (8/5)

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

इसलिये हे अर्जुन! तू सब समय में निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धि से युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा। (8/7)

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥

हे पार्थ! यह नियम है कि परमेश्वर के ध्यान के अभ्यास रूप योग से युक्त, दूसरी ओर न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम प्रकाश रूप दिव्य पुरुष को अर्थात् परमेश्वर को ही प्राप्त होता है। (8/8)

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकाल में भी योगबल से भृकुटी के मध्य में प्राण को अच्छी प्रकार स्थापित करके, फिर निश्चल मन से स्मरण करता हुआ उस दिव्य रूप परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है। (8/10)

मुक्ति न होने पर तो जन्म-मरण का चक्कर चलता ही रहता है जैसा कि आठवें अध्याय के श्लोक 19 में कहा गया है –

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥

हे पार्थ यह भूत समुदाय उत्पन्न हो हो कर प्रकृति के वश में हुआ रात्रि के प्रवेश काल में लीन होता है और दिन के प्रवेश काल में फिर उत्पन्न होता है। इसीलिये दूसरे अध्याय के श्लोक 27 में कहा गया है –

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

किन्तु अच्छे कर्म करने से अगला जन्म अच्छा कैसे मिलता है? यह बात समझायी गयी है प्रश्नोपनिषद् के प्रश्न 3 के मन्त्र 6 व 7 में, जहाँ शरीर में स्थित समस्त नाड़ियाँ तथा उनकी कार्य-प्रणाली का विज्ञान समझाया गया है। मन्त्र 7 में कहा गया है –

जो एक नाड़ी और है उसके द्वारा उदान वायु ऊपर की ओर विचरता है, वह पुण्य कर्मों के द्वारा मनुष्य को पुण्य लोकों में ले जाता है; पाप कर्मों के कारण पाप योनियों में ले जाता है तथा पाप और पुण्य दोनों प्रकार के कर्मों द्वारा जीव को मनुष्य-शरीर में ले जाता है।

इसका अर्थ तो यही निकलता है कि अगले जन्म में जीव को कहाँ जाना है, इसका निर्धारण मानव इसी जीवन में स्वयं अपने कर्मों

के द्वारा कर लेता है – अर्थात् सभी विकल्प हमारे हाथ में हैं – अगले जन्म में कीट-पशु आदि बनना है, मनुष्य बनना है, देव बनना है या मुक्त होना है। यह सब भगवान् का बनाया हुआ विधान है, इसमें वह हस्तक्षेप नहीं करता। हाँ, अपने अनन्य भक्त के लिये तो भगवान् को भी नियम बदलते देखा गया है। वैसे ईश्वर को प्राप्त करने की युक्तियाँ जो भगवान् ने अध्याय 8 में बतायी हैं उनका अभ्यास भी तो हमें स्वयं ही करना होगा।

जो बात अध्याय 8 के श्लोक 7 में बताई गयी है कि –

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।

वही बात अध्याय 10 के श्लोक 9 व 10 में बताई गयी है –

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

निरन्तर मुझ में मन लगाने वाले और मुझ में ही प्राणों को अर्पण करने वाले भक्तजन मेरी भक्ति की चर्चा के द्वारा आपस में मेरे प्रभाव को जनाते हुए तथा गुण और प्रभाव सहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेव में ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदि में लगे हुए प्रेमपूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।

भगवान् कहते हैं कि मुझे प्राप्त करना हो तो निरन्तर मेरा भजन कर। निरन्तर भजन कैसे करें? क्या और कुछ कार्य न करें? इसके लिये भजन की परिभाषा को समझना होगा। भगवान् की आज्ञा के अनुसार कर्तव्य कर्मों को अहंकार रहित होकर, कर्म तथा फल की

आसक्ति को त्यागकर किये गये कर्म भी भजन की श्रेणी में आते हैं। सभी कर्मों को भगवान् का कार्य समझकर करना भी इसी श्रेणी में आता है।

अध्याय 4 में यज्ञ के अनेकों प्रकारों का वर्णन किया गया है – ब्रह्म यज्ञ, देव यज्ञ, ज्ञान यज्ञ, इन्द्रिय संयम यज्ञ, विषय हवन रूप यज्ञ, द्रव्य यज्ञ, तप यज्ञ, योग यज्ञ और स्वाध्याय रूप ज्ञान यज्ञ। इन यज्ञों में से किसी न किसी यज्ञ को करना आवश्यक बताया गया है, किन्तु कर्मयोग की विधि से अपने समस्त कर्मों को परमात्मा के अर्पण करने को सर्वश्रेष्ठ यज्ञ बताया है। इस यज्ञ के करने से कर्म बन्धन का कारण नहीं होते और कर्म बन्धन ही तो पुनर्जन्म का कारण होते हैं। पुनर्जन्म न होने का अर्थ है, मुक्ति अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥

अध्याय 4 में भगवान् कहते हैं – हे धनंजय! जिसने कर्मयोग की विधि से समस्त कर्मों का परमात्मा में अर्पण कर दिया है और जिसने विवेक द्वारा समस्त संशयों का नाश कर दिया है, ऐसे वश में किये हुए अन्तःकरण वाले पुरुष को कर्म नहीं बाँधते।

सारांश यह है कि **'जातस्य हि मृत्युः'** तो निश्चित है किन्तु **'ध्रुवं जन्म मृतस्य च'** का अतिक्रमण किया जा सकता है मुक्ति प्राप्ति के उपायों द्वारा, यद्यपि अर्जुन को जो कहा गया है वह परिस्थिति के अनुसार उचित ही था।

❖ ❖ ❖

पुनर्जन्म न विद्यते

गीता में भगवान ने बताया है कि आत्मा नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है (अध्याय 2 श्लोक 21 और 22)।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

अध्याय 2 श्लोक 27 में यह भी बता दिया कि जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु निश्चित है और जिसकी मृत्यु हुई है उसका जन्म निश्चित है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

अर्थात् मृत्यु शरीर की होती है, आत्मा की नहीं और आत्मा एक शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर धारण कर लेती है। कभी-कभी मन में विचार आता है कि हमें अगला शरीर कौन सा मिलेगा – मनुष्य का या पशु आदि का। कैसा स्थान मिलेगा, कैसा परिवार मिलेगा, अगला जीवन सुखी होगा या दुःख से भरा होगा।

इन सभी प्रश्नों का उत्तर हमें गीता में मिल जाता है। अध्याय 8 के श्लोक 6 में कहा गया है कि यह जीव जिस-जिस भी भाव

को स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है उस-उस को ही प्राप्त होता है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

अध्याय 14 में इसी विषय का स्पष्टीकरण करते हुए बताया गया है कि जब यह मनुष्य सत्त्वगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है तब तो उत्तम कर्म करने वालों के निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोकों को प्राप्त होता है, रजोगुण के बढ़ने पर मृत्यु को प्राप्त होकर कर्मों की आसक्ति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है तथा तमोगुण के बढ़ने पर मरा हुआ मनुष्य कीट, पशु, आदि मूढ़योनियों में उत्पन्न होता है। अध्याय 15 श्लोक 8 में पुनः कहा गया है –

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

अर्थात् वायु गन्ध के स्थान से जैसे गन्ध को ग्रहण करके ले जाती है, वैसे ही देहादि का स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीर का त्याग करता है उससे इन मनसहित इन्द्रियों को ग्रहण करके फिर जिस शरीर को प्राप्त होता है उसमें जाता है। अगले शरीर में इन्द्रियों के माध्यम से जो वासनायें शरीर त्याग के समय शेष रह गई थीं उनको भोगता है। फिर नये कर्म करता है और जन्म-मरण के चक्र में घूमता ही रहता है।

उपरोक्त विश्लेषण से इतनी बात तो समझ में आ जाती है कि इस जन्म में यदि श्रेष्ठ कर्म किये जायें तो अगला जन्म अच्छा ही मिलेगा। तो जब मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है और उन कर्मों को करने के लिये भगवान ने साधन भी दिये हैं – शरीर दिया है, कर्मेन्द्रियाँ दी हैं, विचार करने के लिये मन दिया है, सही-गलत का

निर्णय करने के लिये बुद्धि दी है, भौतिक साधन दिये हैं तो श्रेष्ठ कर्म क्यों न किये जायें।

परन्तु श्रेष्ठ कर्म हैं कौन से? कहीं ऐसा तो नहीं कि हम नीच कर्मों को ही श्रेष्ठ समझकर उन्हीं को किये जा रहे हैं जो हमें अधोगति में ले जा रहे हैं।

इसका उत्तर भी गीता में ही मिलता है। भगवान ने बताया है कि सृष्टि को सुचारु रूप से चलाने के लिये उन्होंने समाज को चार वर्णों में विभाजित किया है – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इन चारों के कर्तव्य निर्धारित किये हुए हैं जिनके अनुसार बरतना ही सबका निज धर्म है। यहाँ उल्लेखनीय है कि निज धर्म सबका अलग होता है जो समय और परिस्थिति द्वारा निर्धारित किया जाता है। यह भी कहा गया है कि जाति का निर्धारण मनुष्य के गुण, स्वभाव, कर्म व संस्कारों के आधार पर होता है न कि जन्म के आधार पर।

ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण हैं – शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, वेद-शास्त्रों में श्रद्धा, अध्ययन व अध्यापन। क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं – शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध से न भागना, दान देना और स्वामिभाव। वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं – खेती, गौपालन, क्रय-विक्रय, वस्तुओं का उत्पादन एवं वितरण, दान देना, समाज का भरण-पोषण करना आदि और सब वर्णों की सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है। अध्याय 18 श्लोक 47 में बताया गया है कि अपना धर्म गुणरहित भी हो तो भी उसी का पालन करना ही मानव का कर्तव्य है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

इसके अतिरिक्त कुछ श्रेष्ठ कर्म ऐसे हैं जो सभी के लिये करणीय हैं। वे हैं यज्ञ, दान और तप। यज्ञ का अर्थ है त्याग। कर्मफल के त्याग को सर्वश्रेष्ठ यज्ञ कहा गया है। दान का अर्थ है

सात्त्विक दान अर्थात् जहाँ जिस वस्तु की कमी हो उसी की पूर्ति अपनी सामर्थ्यानुसार करना बिना प्रत्युपकार की भावना के। तप का अर्थ है धर्म पालन के लिये कष्ट सहना।

ज्ञानियों का, गुरुजनों का, अपने से बड़ों का आदर-सत्कार, सेवा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, प्रिय और हितकारक वचन बोलना, शान्त भाव, क्रोधित न होना, सत्य भाषण, सत्य आचरण, कपटरहित व्यवहार, नाम जप का अभ्यास, मन की प्रसन्नता, मन का निग्रह, अन्तःकरण भी पवित्रता – ये सब तप की श्रेणी में आते हैं।

अन्य करणीय कार्यों का भी गीता में विस्तृत विवरण मिलता है जैसे शुद्ध सात्त्विक भोजन करना, यथायोग्य सोना जागना, सब प्राणियों के प्रति दया का भाव, परोपकार, निन्दा न करना, सबका यथायोग्य सत्कार, विशुद्ध प्रेम, विषयों में आसक्त न होना, कोमलता, अपने में श्रेष्ठता का अभिमान न होना।

उपरोक्त सभी बातें आगामी जन्मों को सुधारने हेतु कही गई हैं। किन्तु गीता में इससे आगे की बात भी बताई गई है कि यह संसार ही दुःखों का घर है। यहाँ प्रत्येक जन्म में मनुष्य दुःख पर दुःख भोगता रहता है। पिछले कर्मों को भोगता हुआ नये कर्म भी करता रहता है और उनको भोगने के लिये फिर जन्म लेना पड़ता है। जन्मते समय और मरण के समय जो कष्ट होते हैं उनको भी सहना पड़ता है। तो जन्म-मृत्यु के जाल से निकलने के उपाय भी गीता में बताये गये हैं। अध्याय 8 के श्लोक 16 में कहा गया है कि हे अर्जुन, ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं परन्तु मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता –

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

कैसे प्राप्त करें भगवान को? इसके निम्नलिखित उपाय बताये गये हैं –

1. अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

जो पुरुष अन्तकाल में भी मुझको स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागकर जाता है वह साक्षात् मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है – इसमें कुछ भी संशय नहीं है। (गीता अध्याय 8 श्लोक 15)

2. कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

समबुद्धि से युक्त ज्ञानीजन कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्यागकर जन्मरूप बन्धन से मुक्त हो निर्विकार परम पद को प्राप्त हो जाते हैं। (गीता अध्याय 2 श्लोक 51)

3. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

निरन्तर आसक्ति से रहित होकर सदा कर्तव्य कर्म को भलीभाँति करता रह। क्योंकि आसक्ति से रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। (गीता अध्याय 3 श्लोक 19)

4. जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं। इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्व से जान लेता है वह शरीर को त्याग कर फिर जन्म नहीं लेता और मुझे ही प्राप्त होता है। (गीता अध्याय 4 श्लोक 9)

गीता के अध्याय 5 के श्लोक 17, 24 और 25 में कहा है –

5. तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही जिनकी निरन्तर एकीभाव से स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञान के द्वारा पाप रहित होकर अपुनरावृत्ति को अर्थात् परम गति को प्राप्त होते हैं। (गीता अध्याय 5 श्लोक 17)

6. योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

जो पुरुष निश्चय करके अन्तरात्मा में ही सुख वाला है, आत्मा में ही रमण करने वाला है तथा जो आत्मा में ही ज्ञान वाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त सांख्य योगी शान्त ब्रह्म को प्राप्त होता है। (गीता अध्याय 5 श्लोक 24)

7. लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिनके सब संशय ज्ञान के द्वारा निवृत्त हो गये हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत हैं और जिनका जीता हुआ मन निश्चल भाव से परमात्मा में स्थित है, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। (गीता अध्याय 5 श्लोक 25)

ऐसे ही अन्य बहुत से श्लोकों में मुक्ति के उपाय बताये गये हैं, जैसे 8/10, 8/13, 9/25, 9/28, 9/32, 9/34 आदि आदि।

निष्कर्ष यह है कि हमें स्वयं ही यह निर्णय करना है कि इस जन्म में शुभ कर्म करके अगला जन्म सुधारना है अथवा दुष्कर्म करके अगला जन्म बिगाड़ना है या फिर जन्म-मरण से ही छुटकारा पाना है।

❖ ❖ ❖

सर्वधर्मान्परित्यज्य

धर्म शब्द का प्रयोग गीता में अनेक स्थानों पर किया गया है किन्तु प्रत्येक स्थान पर सन्दर्भ के अनुसार इस शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। आम बोलचाल की भाषा में धर्म शब्द किसी विशेष समुदाय को इंगित करता है, जैसे हिन्दू धर्म, मुस्लिम धर्म, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म आदि। किन्तु गीता में धर्म शब्द का इस अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। गीता का तो प्रारम्भ ही 'धर्म' शब्द से हुआ है –

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।

कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र इसलिये कहा गया कि इन्द्र ने कुरु को यह वरदान दिया था कि इस क्षेत्र में जो तप करेगा या युद्ध में मारा जायेगा उसे स्वर्ग की प्राप्ति होगी। सम्भवतः यही कारण रहा होगा कि भगवान् ने अर्जुन को कहा कि इस क्षेत्र में यदि तू युद्ध में मारा भी गया तो तुझे स्वर्ग की प्राप्ति होगी (गीता 2/37)।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

मनुस्मृति के अनुसार धर्म के दस लक्षण बताये गये हैं –

धृति क्षमा दमोस्तेयं शौचं इन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

अर्थात् जिस व्यक्ति में ये दस लक्षण पाये जाते हैं अथवा जिसने ये गुण धारण किये हुए हैं वह व्यक्ति धार्मिक कहलायेगा चाहे वह किसी भी जाति, वर्ग, समुदाय, देश या लिंग का हो। इस मान्यता के

अनुसार जहाँ पवित्र नदियाँ बहती हों, जहाँ परोपकारी या साधु लोग वास करते हों, देवताओं की पूजा अधिक होती हो, मंदिर अधिक हों, आसुरी स्वभाव के लोग न रहते हों, सुख-शान्ति का वास हो, वे स्थान धार्मिक या तीर्थ-स्थल कहे जाते हैं। भारतवर्ष में तो ऐसे स्थानों की भरमार है।

गीता में धर्म शब्द का प्रयोग अधिकतर स्वाभाविक कर्म और कर्तव्य के अर्थ में किया गया है। इसके अतिरिक्त राष्ट्र धर्म, जाति धर्म, निज धर्म और कुल धर्म भी होते हैं। अध्याय 1 के श्लोक 40 में अर्जुन कहते हैं –

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥

कुल के नाश से सनातन कुल धर्म नष्ट हो जाते हैं जिससे पाप में वृद्धि हो जाती है। अध्याय 1 के श्लोक 43 में जाति धर्म नष्ट होने की बात कही गई है तथा उसके परिणाम बताये गये हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥

विडम्बना तो यह है कि जिस कार्य को अर्जुन अधर्म समझ रहा है उसी को भगवान् अर्जुन का निज धर्म बता रहे हैं। भगवान् समझाते हैं कि युद्ध छोड़कर संन्यासी बन जाना, यह क्षत्रिय का धर्म कदापि नहीं हो सकता। अर्जुन मानता है कि वह धर्म और अधर्म का निर्णय करने में पूर्णतः असमर्थ है क्योंकि इस समय वह कायरता रूपी दोष से ग्रसित है (गीता 2/7)।

ज्ञातव्य है कि जाति के अनुसार और परिस्थितियों के अनुसार धर्म की परिभाषा पृथक-पृथक होती है।

एक पतिव्रता स्त्री का धर्म है पति की सब प्रकार से सेवा करना, पुरुष का धर्म है नारी की रक्षा व मान करना, न्यायाधीश का धर्म

है अपराधी को दण्ड देना, चाहे अपराधी उसका सगा-सम्बन्धी ही क्यों न हो, धनाढ्य व्यक्ति का धर्म है जरूरतमन्दों की जरूरतें पूरी करना, ब्राह्मण का धर्म है शास्त्रों का पठन-पाठन, क्षमाभाव रखना, सरलता आदि, वैश्य का धर्म है कृषि, पशुपालन वाणिज्य आदि, शूद्र का धर्म है सब वर्णों की सेवा करना।

परिस्थिति के अनुसार धर्म कैसे बदलता है उसके उदाहरण पुराणों में भी मिलते हैं। महाभारत के युद्ध में युधिष्ठिर का झूठ बोलना धर्मानुसार बताया तो अर्जुन के द्वारा निहत्थे कर्ण पर बाण चलाना धर्म बताया। मानस में गोस्वामी तुलसीदास ने भगवान् राम द्वारा ताड़का नामक स्त्री का वध करवा कर धर्म की संज्ञा दी और रावण के यज्ञ का विध्वंस कराना भी न्यायसंगत ठहराया। तात्पर्य यह है कि धर्म की निश्चित परिभाषा करने में बड़े-बड़े विद्वान भी भ्रमित हो जाते हैं।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अपने धर्म से दूसरे का धर्म अच्छा लगने लगता है क्योंकि वह आचरण करने में सुगम है। भगवान् ने ऐसी मानसिकता की भरपूर भर्त्सना करते हुए कहा है कि दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म उत्तम है। अपने धर्म में तो मरना भी अच्छा बताया गया है (गीता 3/35)।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

प्रकृति के सभी तत्त्वों के अपने-अपने गुण धर्म होते हैं, वे उनको कभी नहीं छोड़ते जैसे अग्नि का धर्म है उष्णता, पृथ्वी का गन्ध, चन्द्रमा का शीतलता, वृक्ष का छाया आदि। राजा का धर्म है प्रजा की रक्षा करना, न्याय करना, प्रजा का पालन-पोषण करना, दुष्टों को दण्ड देना, निजी स्वार्थ का त्याग करके जनहित में निर्णय लेना और उनको लागू करना। इसीलिये भगवान् ने अर्जुन को कहा – क्षत्रिय के लिये धर्मयुक्त युद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है (गीता 2/31)।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥

तथा इस धर्मयुक्त युद्ध को नहीं करेगा तो स्वधर्म को खोकर पाप को प्राप्त होगा (गीता 2/33)।

अथ चेतत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

आश्रम के अनुसार भी धर्म बदलते हैं। शास्त्रों में मनुष्य जीवन को चार आश्रमों में विभाजित किया गया है – प्रथम पच्चीस वर्षों तक विद्या का अर्जन करना ही मानव का धर्म बताया गया है क्योंकि शेष जीवन इसी पर आधारित है। इसको ब्रह्मचर्य आश्रम कहा गया है। 25 से 50 वर्ष की आयु तक जीवन की वास्तविक कार्य अवधि है। इस अवधि में अपनी अर्जित विद्या के आधार पर धन का अर्जन करना, उसका सदुपयोग करना, विवाह करना, परिवार का पालन-पोषण करना, माता-पिता की सेवा करना, अतिथि-सेवा आदि करना – यही धर्म है। इसको गृहस्थाश्रम कहा गया है।

50 से 75 वर्ष की आयु में समाज की सेवा को प्राथमिकता देकर सामाजिक ऋण से मुक्त होना ही धर्म है और 75 के बाद शेष जीवन भर आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर होना ही धर्म है। आगामी जीवन में कहाँ जाना है, क्या साथ ले जाना है, इसका विचार करना, संसार से विरक्त हो जाना ही धर्म है।

स्पष्ट है कि भगवान् ने गीता में धर्म को कर्तव्य का पर्यायवाची बताया है और कर्तव्यपालन को ही कर्मयोग का आधार बताया है। किन्तु गीता के अन्त में अध्याय 18 के श्लोक 66 में जो सब धर्मों को त्यागने की बात कही गई है वह उपरोक्त धारणा का अपवाद प्रतीत होता है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

विचारणीय है कि यहाँ भगवान् किस धर्म को त्यागने के लिये कह रहे हैं? इस विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं जो जिज्ञासु साधकों को भ्रमित भी करते हैं। उन मतों का अध्ययन व विश्लेषण करके मैं अपनी अल्प बुद्धि से इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि –

निस्सन्देह सभी लोगों को अपने अपने वर्ण, समय, आश्रम तथा परिस्थिति के अनुसार अपने कर्तव्यों का निर्वहन करना ही है, परन्तु जो साधक श्लोक 3.17 के अनुसार आत्मा में ही रमण करने वाला, आत्मा में ही तृप्त और आत्मा में ही सन्तुष्ट हो अथवा श्लोक 6.25 के अनुसार परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी चिन्तन न करता हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।

इसके अतिरिक्त जो साधक संन्यास आश्रम में प्रवेश कर चुके हैं और सभी सांसारिक कर्तव्यों से मुक्त हो चुके हैं, उनके लिये तो भगवान् की इस उक्ति को निर्देश ही माना जा सकता है जिससे कि वे सांसारिक मोह से मुक्त होकर अपने जीवन के शेष समय को ध्यान के माध्यम से आत्मदर्शन या ईश प्राप्ति की ओर अग्रसर होने में लगा सकें।

इस प्रकार अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए जीवन के अन्त समय में गीता के अध्याय 18 श्लोक 62 का चिन्तन करते हुए परम धाम को प्राप्त करने की पात्रता प्राप्त करें –

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

हे भारत! तू सब प्रकार से उस परमेश्वर की ही शरण में जा। उस परमात्मा की कृपा से ही तू परम शान्ति को तथा सनातन परम धाम को प्राप्त होगा। सब प्रकार से शरण में

जाने का अर्थ है – अनन्यभाव से अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान् के नाम, गुण, प्रभाव का चिन्तन करना और उनके आज्ञानुसार निःस्वार्थ भाव से केवल परमेश्वर के लिये आचरण करना।

❖ ❖ ❖

योगक्षेमं वहाम्यहम्

भगवान् ने गीता के 9वें अध्याय के 22वें श्लोक में कहा है –

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

अर्थात् जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वर को निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भाव से भजते हैं, उन नित्य निरन्तर मेरा चिन्तन करने वाले पुरुषों का योगक्षेम मैं स्वयं कर देता हूँ।

भगवान् भक्त को आश्वासन देते हैं कि जो भक्त निरन्तर मेरा चिन्तन करते हैं, मुझे भजते हैं, मैं भी उनके सभी कार्य सिद्ध कर देता हूँ। योगक्षेम शब्द का अर्थ बड़ा विस्तृत है। अध्यात्म के क्षेत्र में इसका अर्थ है कि मैं भगवत् प्राप्ति के लिये किये हुए साधन की रक्षा करते हुए भगवान् से योग करा देता हूँ। सांसारिक क्षेत्र में इसका अर्थ हो सकता है कि चारों पदार्थों – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति करा देता हूँ। प्रथम दृष्टि से देखने में लगता है कि ईश्वर की प्राप्ति तो बहुत आसान है परन्तु शब्दों की गहराई में जाते हैं तो वास्तविकता का पता लगता है। योगक्षेम का आश्वासन किन भक्तों को दिया गया है, इसका विश्लेषण करना आवश्यक है।

प्रथम शर्त है – **अनन्याः जनाः** – जिसका अन्य कोई न हो। अन्य कौन हो सकता है? धर्मावलम्बी भक्तगण मंदिर जाते हैं, सभी देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, उनकी प्रतिमाओं में उन्हीं देवताओं के स्वरूप का दर्शन करते हैं, सबके सामने अपनी माँगें रखते हैं। किसी से धन की प्राप्ति की कामना, किसी से पुत्र प्राप्ति की कामना,

किसी से नौकरी, किसी से स्त्री, किसी से शारीरिक कष्ट निवारण आदि आदि कामनाओं की पूर्ति चाहते है।

जो भगवान् को तत्त्व से नहीं जानते वे यह भूल जाते हैं कि सभी देवताओं को शक्ति तो परब्रह्म परमेश्वर ही देते हैं, तो जो कहना है वह 'सीधे भगवान् से ही क्यों न कहें? मंदिर में ही नहीं, भक्तगण तो अनेको तीर्थों में भी जाते हैं, व्रत उपवास भी करते हैं। साथ ही साथ इच्छाओं की पूर्ति न होने पर भगवान् को कोसते भी हैं।

यह तो हुई देवताओं का आश्रय लेने वालों की बात। ऐसे भी लोग हैं जिनको अपने बल का आश्रय है, किसी को बुद्धि का आश्रय है, किसी को पुत्र या पुत्रों का आश्रय है, और कोई-कोई तो धन को भगवान् माने हुए हैं और पूरा जीवन धन कमाने में लगा देते हैं। जो इन सब का आश्रय छोड़कर भगवान् से ही प्रेम करते हैं उन्हीं को **अनन्याः जनाः** कहा गया है।

सभी आश्रयों का उदाहरण गोस्वामी तुलसीदास ने मानस के सुन्दरकाण्ड की इन चौपाइयों में दिया है –

जननी जनक बंधु सुत दारा।
तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी।
मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें।
लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

यह तो हुई परिभाषा अनन्यता की। आगे कहते हैं **नित्याभियुक्तानां** – नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करने वाला हो। क्या दुनिया के सब काम छोड़कर केवल भगवान् का चिन्तन करते रहें? नहीं, भगवान् ने कहा है –

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च।

कर्तव्य कर्म भी कर और मेरा स्मरण भी कर। परन्तु यह कैसे सम्भव है – एक साथ दो काम कैसे हो सकते हैं?

यह दो प्रकार से सम्भव है – एक

मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(गीता 10.9)

मुझ में मन लगा हो, मुझ में ही प्राण बसे हों, मेरी भक्ति की ही सर्वत्र चर्चा करे और मेरा कथन करते हुए ही सन्तुष्ट हो और मुझ में ही रमण करता रहे। प्रश्न होता है कि यदि यही सब करता रहे तो अन्य कार्य कैसे करे? इसका उत्तर पुनः सुन्दरकाण्ड में खोजना होगा। सीता माता की खोज में निकले श्री हनुमान जी महाराज की यात्रा को देखें। सबसे पहले कहते हैं –

बार बार रघुबीर सँभारी।
तरकेउ पवनतनय बल भारी॥

फिर कहते हैं

राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ विश्राम।

पुनः सुरसा के प्रति कहते हैं –

राम काजु करि फिरि मैं आवौं।
सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं॥

लंकिनी भी हनुमान जी से कहती है –

प्रबिसि नगर कीजे सब काजा।
हृदयँ राखि कोसलपुर राजा॥

विभीषण को अपना परिचय देते हुए कहते हैं –

तब हनुमंत कही सब राम कथा निज नाम।

तथा

सुनहु विभीषन प्रभु कै रीती।
करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥

एवं

एहि विधि कहत राम गुन ग्रामा।
पावा अनिर्वाच्य विश्रामा॥

इतना ही नहीं, सीता जी को अपना परिचय देने से पहले क्या कहा –

रामचंद्र गुन बरनैं लागा।
सुनतहिं सीता कर दुख भागा॥

स्वयं को पर्वताकार करके दिखाया किन्तु उसमें भी श्रेय भगवान् को दिया –

सुनु माता साखामृग नहिं बल बुद्धि बिसाल।
प्रभु प्रताप तें गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल॥

हनुमान जी महाराज ने रावण को जो अपना परिचय दिया है उसमें तो प्रभु का ही गुणगान है – **'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया'** से लेकर छः चौपाइयों और एक दोहे में केवल राम जी की महिमा गाई है। ऐसा व्यवहार होता है निरन्तर चिन्तन करने वालों का। छोटे बच्चे की जो माँ होती है वह घर के सारे काम-काज करते हुए भी चिन्तन बच्चे का ही करती रहती है। ज़रा सी रोने की आवाज़ उसे आकर्षित कर लेती है।

यह है गीता के इस श्लोक का व्यावहारिक रूप।

सतत स्मरण करने का दूसरा तरीका है स्वयं को सेवक समझ कर सांसारिक कर्तव्यों का पालन करना। सन्त तुलसी दास ने मानस में लिखा है –

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

संसार में जो कुछ भी दिख रहा है चाहे चर हो या अचर, सब कुछ मेरे स्वामी का रूप है – ऐसा जानकर जो सबकी सेवा करे वह अनन्य भक्त है। अर्थात् जो भी कार्य करो, उसे भगवान् का कार्य समझ कर करो।

अगली शर्त है – **पर्युपासते** – निष्काम भाव से भजते हैं। भगवान् को सकाम भाव से भी भजते हैं और निष्काम भाव से भी। गीता के 7वें अध्याय के 16 व 17वें श्लोक में बताया गया है कि भक्त चार प्रकार के होते हैं – आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इनमें से केवल ज्ञानी भक्त ही निष्काम भाव से भजते हैं और वही भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं।

यह तो हुई योगक्षेम की गारंटी। इसके अतिरिक्त जो भगवान् के अनन्य भक्त हैं और 10वें अध्याय के 9वें श्लोक में बताई गई शर्तों पर खरे उतरते हैं उनको तो भगवान् वह तत्त्वज्ञानरूप योग भी स्वयं ही प्रदान कर देते हैं जिससे वे भगवान् को प्राप्त करने योग्य हो जाते हैं –

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता 10.10)

इतना ही नहीं, ऐसे भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये उनके अन्त:करण में स्थित होकर अज्ञानरूपी अन्धकार को हटाकर ज्ञानरूपी

दीपक को प्रज्ज्वलित भी कर देते हैं। (गीता 10.11)। हृदय के अन्दर अन्धकार तभी तक रहता है जब तक भगवान् रूपी प्रकाश नहीं बसता। इसी की पुष्टि रामचरितमानस में की गई है –

ममता तरुण तमी अंधियारी।
राग द्वेष उलूक सुखकारी॥
तब लगि बसत जीव मन माहीं।
जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं॥

हमारे मन पर जन्मों-जन्मों का मैल चढ़ा रहता है, प्रभु भक्ति का प्रवेश होते ही वह मैल धुल जाता है और हृदय में रह जाता है ज्ञान का प्रकाश। भक्त को तो भगवान् सभी कुछ देने को तत्पर रहते हैं – ज्ञान, सम्पत्ति, बल, ऐश्वर्य, राज्य, सद्बुद्धि अथवा जो भी उसके हित में हो, और मुक्ति तो है ही। सम्पत्ति कितनी देते हैं, देखिये –

जो संपति सिव रावनहि दीन्ह दिएँ दस माथ।
सोइ सम्पदा विभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥

जो सम्पत्ति लंका के रूप में शंकर भगवान् ने रावण को कई हजार वर्षों की तपस्या के फलस्वरूप दी थी वही सम्पत्ति भगवान् ने एक क्षण में अपने भक्त को दे डाली।

ऐसा है भक्ति का प्रभाव!

❖ ❖ ❖

तप की महिमा

हमारे शास्त्रों में तप की बड़ी महिमा बताई गई है। तप के बल से ब्रह्माजी ने सृष्टि की रचना की थी, तप के बल से ही विष्णुजी सम्पूर्ण जगत का पालन करते हैं और तप के बल से ही शंकरजी संहार करते हैं। तप के बल से ऋषि वाल्मीकि निहत्थों की हत्या जैसे घोर पापों को जलाकर रामायण जैसे महान ग्रन्थ की संस्कृत में काव्य रचना करके त्रिकालदर्शी आदिकवि बन गये।

सन्त तुलसीदास के अनुसार तो तप के बल से ही शेष जी पृथ्वी का भार भी वहन करते हैं –

तपबल रचइ प्रपंचु बिधाता।
तपबल बिष्नु सकल जग त्राता॥
तपबल संभु करहिं संघारा।
तपबल सेषु धरइ महिभारा॥

मनु और उनकी पत्नी शतरूपा ने केवल जल का आहार करके छः हजार वर्ष तक, वायु का आहार करके सात हजार वर्ष तथा बिना वायु के दस हजार वर्ष तप किया; तब जाकर उनको अपने अभीष्ट की प्राप्ति हुई। रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण ने तप के बल से मनचाहे वर पाये। पार्वती ने तप करके शिवजी को पाया। ध्रुव ने तप करके प्रभु की गोद पाई। कश्यप और अदिति ने तप करके भगवान् को पुत्र रूप में प्राप्त किया। ऐसे-ऐसे अनेक उदाहरण पुराणों में मिलते हैं।

यह तो हुआ एक प्रकार का तप जो किसी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के उद्देश्य से किया जाता था। इसके अतिरिक्त कर्तव्य पालन

के लिये कष्ट सहना भी तप होता है। ऐसा तप किया था भगवान् राम ने जिन्होंने लोकहित के लिये लगातार 14 वर्ष तक पृथ्वी पर शयन किया, संन्यासी के वेष में कन्द मूल फल खाकर गुज़ारा किया, वन में वास करते हुए जंगलों, पहाड़ों, कन्दराओं में सर्दी, गर्मी, बरसात के थपेड़े खाये, बिना सेना के राक्षसों से युद्ध किया, एक वर्ष तक पत्नी का वियोग सहा और भी कितने ही असहनीय कष्ट सहे।

ऐसा तप किया था लक्ष्मण ने जिन्होंने पत्नी सहित सारे सुख छोड़कर बिना शयन किये लगातार 14 वर्ष तक भगवान् राम की सेवा की। ऐसा ही तप किया था भरत और शत्रुघ्न ने, जिन्होंने तपस्वी की भाँति जीवन बिताते हुए, पूरे चौदह वर्ष पृथ्वी में गड्ढ़ा खोदकर शयन किया, प्रतिदिन नंदीग्राम से अयोध्या जाकर राज्यसिंहासन पर आसीन खड़ाऊँ को भगवान् राम मानकर स्वयं को सेवक समझते हुए राजा के सभी कर्तव्य निभाये।

श्रीमद्भागवत में कथा आती है कि कर्दम ऋषि देवहूति से विवाह करने के पश्चात् समाधि में बैठ गये थे जो 40 वर्ष तक चली। इस पूरी अवधि में देवहूति उनकी जानकारी के बिना उनकी सेवा करते करते जवान से बूढ़ी हो गई। उनकी यह सेवा किसी तप से कम नहीं थी।

लेकिन भगवान् कृष्ण ने कलियुग के मनुष्यों के लिये तप की एक नई परिभाषा का सृजन किया जिसके अनुसार तप के लिये वनों में, पर्वतों पर अथवा गुफाओं में जाने की आवश्यकता नहीं है वरन् संसार में रहते हुए ही अपने कर्तव्यों को निभाते हुए ही किया जा सकता है। आधुनिक युग में कुछ समय पूर्व भक्ति काल में जो भक्त हुए हैं वे सभी तपस्वी थे। सूरदास, मीराबाई, कबीर, तुलसीदास, रविदास, सखूबाई, तुकाराम, रहीम, त्यागराज, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, श्री अरविंद, वल्लभाचार्य, नानक, मलूकदास, सदन कसाई आदि सन्त इस तप के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इन सभी सन्तों का जीवन दरिद्रता, उपेक्षा और अनेक प्रकार के

शारीरिक कष्टों से भरा हुआ था। इन सभी प्रकार के कष्टों का वहन करते हुए भी इन भक्तों ने अपना कर्तव्य नहीं छोड़ा। इसी तप के बल से ये सब भक्त की श्रेणी में आये।

गीता के अध्याय 18 में यज्ञ, दान और तप सभी मनुष्यों के लिये अवश्य करणीय कर्म बताये गये हैं –

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।

अध्याय 17 में तप की विधि भी विस्तार से समझाई गई है जिसमें शरीर, वाणी तथा मन तप के साधन बताये गये हैं –

1. शारीरिक तप

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

अर्थात् देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी – इन चार जनों का पूजन। देवता उनको कहते हैं जो गीता अध्याय 16 में वर्णित दैवी सम्पदा वाले हैं।

ब्राह्मण वे होते हैं जिनके स्वभाव में गीता अध्याय 18 के श्लोक 42 में वर्णित गुण होते हैं। गुरु शब्द से माता, पिता, आचार्य और वृद्ध एवं अपने से जो किसी प्रकार भी बड़े हों, उन सबको समझना चाहिए। ज्ञानी उनको समझना चाहिए जिनमें गीता अध्याय 13 के श्लोक 7 से 11 में वर्णित गुण हों। **पूजनम्** का अर्थ है उपरोक्त चारों का मान सम्मान करना, उनके गुणों को धारण करना, उनकी आज्ञा का पालन करना, उनके द्वारा निर्धारित मार्ग का अनुसरण करना, अपने को उनसे छोटा समझना।

शारीरिक तप की दूसरी आवश्यकता है **'पवित्रता'** जिसका अर्थ है अपने शरीर को बाहर और भीतर से शुद्ध रखना। न केवल शरीर को, अपने घर को, अपने वातावरण को भी स्वच्छ रखना, कहीं भी गन्दगी न फैलाना, कहीं गन्दगी दिखाई भी दे तो

उसे साफ करना या साफ करने में सहायता करना आदि। इसके अतिरिक्त अपने शरीर को सेवा, प्रेम व सत्संग में लगाना भी आवश्यक है।

शारीरिक तप की तीसरी आवश्यकता है **'सरलता'**। सरलता का अर्थ है दम्भ रहित होना अर्थात् स्वयं को जैसा है वैसा ही प्रदर्शित करना, सबके साथ सद् व्यवहार करना, छल, कपट, बेईमानी, बनावट आदि से दूर रहना।

शारीरिक तप की चौथी आवश्यकता है **'ब्रह्मचर्य'** की। ब्रह्मचर्य का अर्थ है शास्त्रों में वर्णित ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करना, अष्टांग योग को धारण करना। संक्षिप्त में कहें तो ब्रह्म मुहूर्त में जागना, नियम से स्नान, सन्ध्या आदि करना, उचित मात्रा में भोजन व शयन करना, पर-स्त्री में माता, बहन, कन्या की दृष्टि रखना, सभी कार्य उचित समय पर करना, वर्ण व आश्रम के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करना आदि ब्रह्मचारी के लक्षण हैं।

शारीरिक तप की पाँचवीं आवश्यकता है **'अहिंसा'**। हमारे शरीर के द्वारा किसी भी जीव को किसी प्रकार की भी हानि न होने पाये, ऐसा तो प्रायः असम्भव ही है; क्योंकि पुलिस व न्यायाधीश द्वारा अपराधी को दण्ड देना उनका कर्तव्य है, युद्ध के मैदान में शत्रु पक्ष के सैनिकों पर प्रहार करना अनिवार्य है ही, अपनी प्राणरक्षा हेतु हिंसक जीवों की हत्या करनी ही पड़ती है। हां, प्रमादवश किसी जीव को हानि पहुँचाना, बदले की भावना से, अपने किसी स्वार्थ की सिद्धि के उद्देश्य से, क्रोध, द्वेष अथवा मत्सर के कारण किसी भी जीव को किसी प्रकार भी कष्ट पहुँचाना अवश्य ही हिंसा है। इस प्रकार की हिंसा से स्वयं को बचाकर रखना तप की श्रेणी में आता है।

उपरोक्त कार्य करते हुए अपने शरीर को तपाना या अन्य प्रकार से कष्ट पहुँचाना अथवा हर खुशी से स्वयं को वंचित रखने को गीता में तप नहीं कहा गया है, वरन् ईश प्रदत्त साधनों का सही दिशा में

अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार सदुपयोग करते हुए **सर्वजनहिताय** अपने कर्तव्य का पालन करने को तप कहा गया है।

2. वाणी का तप

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वांग्मयं तप उच्यते॥

वाणी शरीर का एक अत्यन्त शक्तिशाली और महत्वपूर्ण अंग है जिससे व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता, मानसिक अनुशासन व शारीरिक संयम का परिचय मिलता है। मनुष्य की समस्त इन्द्रियों में सर्वाधिक उपयोग में आने वाली और सर्वाधिक शक्तिशाली इन्द्रिय वाणी ही है। अतः इस शक्ति का संवरण करते हुए सावधानी से इसका सदुपयोग करना ही वाणी का तप है। महात्मा गाँधी कहा करते थे कि मौन सर्वोत्तम भाषण है। अगर बोलना ही है तो कम-से-कम बोलो। एक शब्द से ही काम चल जाय तो दो न बोलो। कार्ल इल ने कहा है – मौन में शब्दों की अपेक्षा अधिक वाक्शक्ति होती है।

वाणी का उपयोग शास्त्र पढ़ने में, प्रेम और सहानुभूति व्यक्त करने में करना चाहिए। व्यर्थ की बातों से शक्ति का ह्रास होता है। सत्य और मधुर वाणी से असम्भव भी सम्भव हो जाता है। यदि सत्य और प्रिय में से एक का चयन करना पड़े तो प्रिय को वरीयता देना श्रेष्ठ है। सन्त कबीर ने कहा है –

कागा काको धन हरै, कोयल काको देत।
मीठा शब्द सुनाय के, जग अपनो करि लेत॥

तथा

ऐसी वाणी बोलिये मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे आपहु शीतल होय॥

वाणी की मधुरता से मनुष्य शत्रु को मित्र बना सकता है, दुर्भाग्य को सौभाग्य में परिवर्तित कर सकता है। कम बोलने वाले व्यक्ति का एक-एक शब्द मूल्यवान होता है। उसकी बात को लोग ध्यान से सुनते हैं।

जिसकी वाणी मधुर हो, सत्य हो, दूसरों को उत्तेजित करने वाली न हो, जो बिना आवश्यकता के वाणी का प्रयोग न करता हो अर्थात् मितभाषी हो, जिसकी वाणी से सबका हित होता हो, जिसकी वाणी को शास्त्र पढ़ने का अभ्यास हो, ऐसे व्यक्ति को कलियुग में तपस्वी समझना चाहिए। सन्त तुलसीदास ने रामचरितमानस में लिखा है –

जो नहिं करहि राम गुन गाना।
जीह सो दादुर जीह समाना॥

क्रोध की अभिव्यक्ति भी वाणी के माध्यम से होती है। यदि क्रोध को वश में करना है तो वाणी पर लगाम कसना आवश्यक है क्योंकि एक बार जो शब्द मुख से निकल गया वह वापस नहीं लिया जा सकता चाहे कितना भी पश्चात्ताप कर लें या क्षमा प्रार्थना कर लें। इसलिये बोलने से पहले तोलना आवश्यक है। यही वाणी का तप है।

3. मन का तप

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

मनः प्रसादः अर्थात् मन की प्रसन्नता। मन से प्रसन्न वही हो सकता है जो ऐषणाओं से रहित हो, अपने आप में सन्तुष्ट हो और किसी से कोई अपेक्षा न रखता हो। शान्तभाव अर्थात् हर्ष, अमर्ष और कामनाओं से विचलित न हो, जिसका अन्य विषयों का चिन्तन

करने के स्थान पर भगवान् का या आत्मचिन्तन करते रहने का स्वभाव बन गया हो, जिसने काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर आदि विकारों से अपने मन का निग्रह कर लिया है और जिसके भाव पूर्णतः पवित्र रहते हैं अर्थात् किसी के भी प्रति राग, द्वेष, प्रतिस्पर्धा, घृणा आदि से रहित हैं। यदि किसी के भी प्रति द्वेष का भाव मन में आता है तो **भावसंशुद्धि** नहीं हुई क्योंकि मन के भाव बिना कहे ही दूसरे व्यक्ति तक पहुँच जाते हैं। यह कार्य अति कठिन है क्योंकि जो व्यक्ति हमारे साथ शत्रुता का व्यवहार करता है उस के प्रति घृणा के स्थान पर प्रेम का भाव रखना लगभग असम्भव लगता है। गुरु महाराज ने कहा है कि साधक को यह देहरी तो लाँघनी ही होगी। किन्तु कैसे? इसके लिये यह भाव प्रबल करना होगा कि जो दूसरा कर रहा है वह मैं क्यों करूँ। वह 'वह' है और मैं 'मैं' हूँ। मैं उस जैसा क्यों बनूँ ? उसने दुर्व्यवहार किया है या कुछ गलत किया है तो यह उसकी देनदारी है। मेरा स्वभाव तो सब से प्रेम करने का है, उसके दुर्व्यवहार का उत्तर भी प्रेम से दूँगा। अपना स्वभाव ऐसा बनाने के लिये भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिए।

इन सब गुणों को स्वयं में विकसित करना मन सम्बन्धी तप कहा जाता है।

इस प्रसंग में यह जानना भी आवश्यक है कि तप हमेशा सात्त्विक ही नहीं होता, राजसिक या तामसिक भी हो सकता है। तप किसी भी प्रकार का हो – शरीर का हो, वाणी का हो अथवा मन का हो, वह सात्त्विक तभी होता है जब श्रद्धा पूर्वक किया जाये और बिना फल की इच्छा के किया जाये। यदि फल की इच्छा से किया गया हो अथवा प्रत्युपकार की आशा से किया गया हो तो वह राजसिक तप की श्रेणी में आयेगा, और यदि दूसरे का अनिष्ट करने की इच्छा से किया गया हो तो वह तप तामसिक कहलायेगा जैसे रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाथ, हिरण्यकश्यप आदि ने किया था।

इस प्रकार मन, वाणी व शरीर से सात्त्विक तप करके मनुष्य सांसारिक कर्तव्यों का निर्वहन करते हुए भी अपने अभीष्ट को पा सकता है।

श्रद्धा एवं शास्त्रविधि

गीता के 16वें अध्याय में भगवान् ने दैवी सम्पदा एवं आसुरी सम्पदा के लक्षणों का वर्णन करते हुए बताया है कि दैवी सम्पदा मुक्ति के लिये और आसुरी सम्पदा बाँधने के लिये मानी गई है तथा आसुरी सम्पदा को धारण करने वाले व्यक्तियों को बार-बार आसुरी योनियों में जन्म लेना पड़ता है। इस अध्याय के अन्त में भगवान् ने बताया है कि मनुष्य को शास्त्रविधि से कार्य करने चाहिए न कि मनमाने ढंग से।

इस सन्दर्भ में 17वें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन का यह प्रश्न प्रासंगिक है कि जो मनुष्य शास्त्रविधि को त्यागकर श्रद्धा से युक्त हुए देवादि का पूजन करते हैं उनकी क्या स्थिति है?

यहाँ भगवान् एक महत्वपूर्ण घोषणा करते हैं कि शास्त्रविधि को त्यागकर अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करने वाला व्यक्ति न तो सिद्धि को प्राप्त होता है, न परम गति को और न सुख को। इतना ही नहीं, भगवान् ने तो यहाँ तक कह दिया कि शास्त्रविधि से रहित तो तप भी निन्दनीय है क्योंकि ऐसा तप करने वाले व्यक्ति अपना और समाज का अहित ही करते हैं। पुराणों की कथाओं से पता लगता है कि रावण, कुम्भकरण, मेघनाद, हिरण्यकशिपु आदि अनेकों राक्षसों ने इस प्रकार का तप करके अहंकारयुक्त होकर अपनी शक्ति और समय का दुरुपयोग ही किया है और समाज को इतनी पीड़ा पहुँचाई है कि उनसे निज़ात पाने के लिये भगवान् को अवतार धारण करना पड़ा।

इसलिये भगवान् ने आज्ञा दी है कि जो भी कार्य करें शास्त्रों के अनुसार करें। जहाँ तक तप का प्रश्न है, भगवान् ने घोर तप करने के स्थान पर ऐसे तप की अनुशंसा की है जो कोई भी

व्यक्ति कहीं भी रहकर कर सकता है। अपने शरीर द्वारा गुरुजनों व ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का पालन, वाणी द्वारा प्रिय और हितकारक भाषण, वेद शास्त्रों का पठन, नाम जप का अभ्यास और मन का निग्रह, शान्तभाव, अन्तःकरण की पवित्रता – ये सभी आचरण तप की श्रेणी में आते हैं। किन्तु यह तप तभी सार्थक (सात्त्विक) होता है जब फल की इच्छा न रखते हुए परम श्रद्धा से युक्त होकर किया जाये अन्यथा यह राजसिक या तामसिक भी हो सकता है, अनिष्टकारक भी हो सकता है जैसा ऊपर बताया गया है। 17वें अध्याय के 5वें श्लोक में कहा गया है –

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥

इसी प्रकार दान भी तभी सार्थक होता है जब वह कर्तव्य समझ कर देश, काल तथा पात्र के प्राप्त होने पर प्रत्युपकार न करने वाले के प्रति किया जाये।

दातव्यमिति यद्दानं दीयते अनुपकारणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतं॥

यही नियम यज्ञ पर भी लागू होता है।

संसार के अधिकतर लोग तो जानते ही नहीं हैं कि शास्त्र की आज्ञा है क्या, क्योंकि आधुनिक युग में शास्त्रों की शिक्षा न तो पाठशालाओं में दी जाती है और न घर में ही। बस सुनी सुनाई बातों पर विश्वास कर लेते हैं या किसी को देखकर परम्परा मानकर कर लेते हैं जैसे अर्जुन ने कह दिया था कि स्वजनों और गुरुजनों को मारने से पाप लगता है, पितर गिर जाते हैं, नरक में चले जाते हैं आदि आदि। उसको यह जानकारी नहीं थी कि यह नियम युद्धभूमि में लागू नहीं होता।

कुछ लोगों ने शास्त्र पढ़े भी होते हैं तो उनका अर्थ अपनी बुद्धि के अनुसार कुछ का कुछ निकाल लेते हैं। अन्य कुछ लोग कह दिया करते हैं कि शास्त्र पुराने समय के हैं, आज के समय में ये नियम व्यावहारिक नहीं हैं। सम्भवतः इसीलिए 17वें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने यह प्रश्न किया होगा कि जो लोग शास्त्र विधि का पालन नहीं करते किन्तु श्रद्धा से युक्त हैं वे किस श्रेणी में आते हैं।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥

इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि श्रद्धा तीन प्रकार की होती है – सात्त्विकी, राजसी एवं तामसी। जैसा मनुष्य का स्वभाव या अन्तःकरण होता है वैसी ही उसकी श्रद्धा भी होती है और जैसी जिसकी श्रद्धा होती है वैसा ही मनुष्य स्वयं भी होता है तथा उसकी उपलब्धि भी उसकी श्रद्धा के अनुसार ही होती है। सात्त्विक पुरुष चूँकि देवताओं को पूजते हैं, वे देवताओं को ही प्राप्त होते हैं (गीता 9.25)। इसी प्रकार राजसिक श्रद्धा वाले पुरुष यक्ष और राक्षसों को तथा तामस मनुष्य प्रेत और भूतगणों को प्राप्त होते हैं। शास्त्रों का ज्ञान न होने से मनुष्य इस अन्तर को समझ नहीं पाता। ज्ञातव्य है कि गीता को भलीभाँति समझ लेने से ही समस्त शास्त्रों का सार समझ में आ जाता है।

जो व्यक्ति शास्त्र ज्ञान से रहित होता है उसका क्या होता है? ऐसा व्यक्ति दम्भ और अहंकार से युक्त होकर अथवा बल के अभिमान और आसक्ति से प्रभावित होकर मनमाने ढंग से इन्द्रियों को सुखाकर तप भी करता है तो भी उसको कुछ प्राप्ति नहीं होती।

आगे के श्लोकों में भगवान् ने बताया है कि केवल श्रद्धा ही नहीं, आहार, यज्ञ, तप और दान – ये सब भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं। आहार के विषय में भगवान् बताते हैं कि जो लोग सात्त्विक

वृत्ति के होते हैं वे ऐसे भोजन को पसन्द करते हैं जो आयु, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले होते हैं। राजसिक स्वभाव वाले मनुष्यों का आकर्षण कडुवे, खट्टे, अधिक लवणयुक्त, अधिक गरम, अधिक ठण्डा, तीखे, रूखे, दाहकारक और दु:ख, चिन्ता तथा रोगों को उत्पन्न करने वाले खाद्य पदार्थों की ओर होता है। तामसिक स्वभाव वाले व्यक्ति रसरहित, बासी, दुर्गन्धयुक्त, अपवित्र तथा ऐसे भोजन को पसन्द करते हैं जो सब प्रकार से शरीर को हानि पहुँचाने वाला होता है। अर्थात् राजसिक व तामसिक लोगों के भोजन का चयन जिह्वा के स्वाद पर आधारित होता है जिससे क्षणिक सुख की अनुभूति होती है।

यज्ञ का वर्गीकरण करते हुए भगवान् बताते हैं कि जो यज्ञ शास्त्रों में वर्णित विधि के अनुसार किया जाये, बिना फल की इच्छा के कर्त्तव्य समझ कर किया जाये वह सात्त्विक यज्ञ होता है। यज्ञ करने का कर्तव्य तीसरे अध्याय के श्लोक संख्या 10 से 16 तक में समझाया गया है, जहाँ प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजाओं को रचकर उनसे कहा था कि तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को उन्नत करो और वे देवता तुम लोगों को उन्नत करें। इस प्रकार नि:स्वार्थ भाव से एक दूसरे को उन्नत करते हुए तुम लोग परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे। इसके विपरीत जो यज्ञ केवल दम्भ अर्थात् दिखावे के लिए अथवा फल को दृष्टि में रखकर किया जाता है वह राजसिक यज्ञ कहलाता है। और तामसिक यज्ञ तो शास्त्र विधि से हीन, अन्नदान से रहित, बिना मन्त्रों के, बिना दक्षिणा के और बिना श्रद्धा के किया जाता है।

अध्याय 17 में भगवान् ने श्रद्धा को भी उतना ही आवश्यक बताया है जितना कि शास्त्रविधि को। श्रद्धा से रहित यज्ञ को तामसिक यज्ञ कहा गया है –

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।

(गीता 17.13)

भगवान् ने तो यहाँ तक कह दिया कि बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म है वह सब का सब असत् होता है अर्थात् वह कर्म न तो इस लोक में लाभदायक है और न मरने के बाद ही।

इसलिए हमें हर समय ध्यान रखना चाहिए कि जो भी शुभ कार्य करें वह श्रद्धा से युक्त होकर करें और जो भी कार्य करें वह शास्त्र सम्मत हो, शास्त्र-विरुद्ध कोई भी कार्य न करें।

धर्म की परिभाषा

'धर्म' शब्द का प्रयोग हमारी बोलचाल में भी और साहित्य में भी बहुलता से किया जाता है, किन्तु इसका अर्थ सन्दर्भ के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। आम तौर पर तो धर्म शब्द किसी विशेष समुदाय को इंगित करता है, जैसे हिन्दू धर्म, मुस्लिम धर्म, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म, बौद्ध धर्म आदि, किन्तु इसके अतिरिक्त राष्ट्रधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, स्त्रीधर्म, पुत्रधर्म, शिष्यधर्म भी सुनने में आते हैं।

गीता के प्रथम अध्याय में कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट होने पर अर्जुन की चिन्ता व्यक्त की गई है। (श्लोक 40 व 43)। एक पतिव्रता स्त्री का धर्म है पति की सब प्रकार से सेवा करना, पुरुष का धर्म है नारी की रक्षा व सम्मान करना, न्यायाधीश का धर्म है अपराधी को दण्ड देना, चाहे अपराधी उसका सगा-सम्बन्धी ही क्यों न हो, धनाढ्य व्यक्ति का धर्म है जरूरतमन्दों की जरूरतें पूरी करना, ब्राह्मण का धर्म है शास्त्रों का पठन-पाठन, क्षमाभाव रखना, सरलता आदि, वैश्य का धर्म है कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि, शूद्र का धर्म है सब वर्णों की सेवा करना।

जैन समुदाय में कहा गया है – **अहिंसा परमो धर्मः।** शास्त्रों में मानवता को ही श्रेष्ठ धर्म बताया गया है। बुद्ध, महावीर और क्राइस्ट – इन सभी ने धर्म को अपने-अपने मतानुसार परिभाषित किया है। महावीर तो समता को धर्म का पर्याय मानते रहे।

मनुस्मृति के अनुसार धर्म के दस लक्षण बताये गये हैं –

धृति क्षमा दमोस्तेयं शौचं इन्द्रियनिग्रह
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।

अर्थात् धैर्य, सहनशीलता, काम एवं लोभ पर संयम, चोरी न करना, पवित्रता (कायिक, मानसिक तथा वाचिक) इन्द्रियों पर अधिकार, ज्ञान, अध्ययनशीलता, सत्य का आचरण एवं क्रोध का अभाव – ये दस लक्षण जिस व्यक्ति में पाये जाते हैं अथवा जिसने ये गुण धारण किये हुए हैं वह व्यक्ति धार्मिक कहलायेगा चाहे वह किसी भी जाति, वर्ग, समुदाय, देश या लिंग का हो।

गीता में धर्म शब्द का प्रयोग अधिकतर स्वाभाविक कर्म और कर्तव्य के अर्थ में किया गया है। कर्तव्य का निर्धारण सामाजिक स्थिति, वर्ण और आश्रम के आधार पर किया जाता है जैसे युद्ध के मैदान में अर्जुन का कर्तव्य था विपक्षियों से युद्ध करना जिससे अर्जुन बचना चाहता था। स्वाभाविक कर्म प्रत्येक व्यक्ति के अलग-अलग होते हैं जिनका आधार होता है पूर्व जन्मों के संस्कार, इस जन्म में मिला हुआ परिवार, मित्रों, सहपाठियों, अध्यापकों का व्यवहार, वित्तीय स्थिति आदि और आध्यात्मिक विकास का स्तर।

परिस्थिति के अनुसार धर्म कैसे बदलता है उसके उदाहरण पुराणों में भी मिलते हैं। महाभारत के युद्ध में युधिष्ठिर का झूठ बोलना धर्मानुसार बताया गया तो अर्जुन के द्वारा निहत्थे कर्ण पर बाण चलाना धर्म बताया। मानस में गोस्वामी तुलसीदास ने भगवान् राम द्वारा ताड़का नामक स्त्री का वध करवा कर धर्म की संज्ञा दी और रावण के यज्ञ का विध्वंस कराना भी न्यायसंगत ठहराया। तात्पर्य यह है कि धर्म की निश्चित परिभाषा करने में बड़े-बड़े विद्वान भी भ्रमित हो जाते हैं।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अपने धर्म से दूसरे का धर्म अच्छा लगने लगता है क्योंकि वह आचरण करने में सुगम है। भगवान् ने ऐसी मानसिकता की भरपूर भर्त्सना करते हुए कहा है कि दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म उत्तम है। अपने धर्म में तो मरना भी अच्छा बताया गया है (गीता 3/35)।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

प्रकृति के सभी तत्त्वों के अपने-अपने गुण धर्म होते हैं, वे उनको कभी नहीं छोड़ते जैसे अग्नि का धर्म है उष्णता, पृथ्वी का गन्ध, चन्द्रमा का शीतलता, वृक्ष का छाया आदि। राजा का धर्म है प्रजा की रक्षा करना, न्याय करना, प्रजा का पालन-पोषण करना, दुष्टों को दण्ड देना, निजी स्वार्थ का त्याग करके जनहित में निर्णय लेना और उनको लागू करना। इसीलिये भगवान् ने अर्जुन को कहा – क्षत्रिय के लिये धर्मयुक्त युद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है (गीता 2/31)।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥

तथा इस धर्मयुक्त युद्ध को नहीं करेगा तो स्वधर्म को खोकर पाप को प्राप्त होगा (गीता 2/33)।

अथ चेतत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

आश्रम के अनुसार भी धर्म बदलते हैं। शास्त्रों में मनुष्य जीवन को चार आश्रमों में विभाजित किया गया है – प्रथम पच्चीस वर्षों तक विद्या का अर्जन करना ही मानव का धर्म बताया गया है क्योंकि शेष जीवन इसी पर आधारित है। इसको ब्रह्मचर्य आश्रम कहा गया है। 25 से 50 वर्ष की आयु तक जीवन की वास्तविक कार्य अवधि है। इस अवधि में अपनी अर्जित विद्या के आधार पर धन का अर्जन करना, उसका सदुपयोग करना, विवाह करना, परिवार का पालन-पोषण करना, माता-पिता की सेवा करना, अतिथि-सेवा आदि करना - यही धर्म है। इसको गृहस्थाश्रम कहा गया है।

50 से 75 वर्ष की आयु में समाज की सेवा को प्राथमिकता देकर सामाजिक ऋण से मुक्त होना ही धर्म है और 75 के बाद शेष जीवन भर आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर होना ही धर्म है। आगामी जीवन में कहाँ जाना है, क्या साथ ले जाना है, इसका विचार करना, संसार से विरक्त हो जाना ही धर्म है।

स्पष्ट है कि भगवान् ने गीता में धर्म को कर्तव्य का पर्यायवाची बताया है और कर्तव्यपालन को ही कर्मयोग का आधार बताया है। किन्तु गीता के अन्त में अध्याय 18 के श्लोक 66 में जो सब धर्मों को त्यागने की बात कही गई है वह उपरोक्त धारणा का अपवाद प्रतीत होता है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

उपरोक्त श्लोक चूँकि गीता के अन्त में कहा गया है तो एक प्रकार से यह गीता का सारांश ही है। एक दृष्टि से तो विचित्र सी बात लगती है कि भगवान् अर्जुन को सभी धर्मों को त्यागने का आदेश कैसे दे सकते हैं। किन्तु पूरी गीता का अवलोकन करें तो भगवान् का आशय स्पष्ट हो जाता है। गीता के आरम्भ में अर्जुन कहता है कि अपने सम्बन्धियों और गुरुजनों को मारने से मुझे पाप लगेगा और कुलधर्म, जातिधर्म आदि नष्ट हो जायेंगे अर्थात् पाप और धर्म एक दूसरे के विरोधी शब्द हैं। गीता के अध्याय 4 में स्वयं भगवान् ने ही कहा है कि जब-जब धर्म की हानि होती है और पाप बढ़ जाता है, तब-तब मैं अवतार धारण करता हूँ। तो अब अलग बात कैसे कह रहे हैं। वास्तव में भगवान् उन मान्यताओं को त्यागने के लिये कह रहे हैं जिनको अर्जुन अज्ञानतावश धर्म समझ रहा था। अर्जुन यह नहीं समझ पा रहा था कि पाप और धर्म के जो नियम साधारण अवस्था में लागू होते हैं वे युद्ध में लागू नहीं होते। इसीलिये अर्जुन को सम्यक ज्ञान की आवश्यकता थी।

तो क्या आशय था भगवान् का? अर्जुन डरता था पाप से। हर व्यक्ति डरता है। भगवान् उसी डर को दूर करते हुए कहते हैं कि मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा, बस तू मेरी शरण में आ जा – केवल मेरी शरण में – **माम् एकं** – अन्य कुछ भी नहीं। यहाँ दो शर्तें हैं – शरण और एक। शरण में आने का अर्थ है जो कुछ मैं कहता हूँ कर, बिना किसी तर्क-वितर्क के; और एक का अर्थ है शेष सब कुछ छोड़कर। सब कुछ मतलब? उत्तर दिया है सन्त तुलसीदास ने रामचरितमानस में –

जौं नर होइ चराचर द्रोही।
आवै सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना।
करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥
जननी जनक बंधु सुत दारा।
तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी।
मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

तत्त्व क्या है? सब कर्तव्यों को पूरा कर और उनको मुझे अर्पित कर दे (**सर्वधर्मान्परित्यज्य**), सभी आश्रयों को छोड़ (जो ऊपर बताये गये हैं), मेरी शरण में आ (**मामेकं शरणं व्रज**), वो सब कार्य कर जो मैंने गीता में बताये हैं, तो मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा (**मोक्षयिष्यामि**), तू शोक मत कर (**मा शुचः**)।

इस प्रकार अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए जीवन के अन्त समय में गीता के अध्याय 18 श्लोक 62 का चिन्तन करते हुए परम धाम को प्राप्त करने की पात्रता प्राप्त करें –

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

हे भारत! तू सब प्रकार से उस परमेश्वर की ही शरण में जा। उस परमात्मा की कृपा से ही तू परम शान्ति को तथा सनातन परम धाम को प्राप्त होगा। सब प्रकार से शरण में जाने का अर्थ है – अनन्यभाव से अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान् के नाम, गुण, प्रभाव का चिन्तन करना और उनके आज्ञानुसार निःस्वार्थ भाव से केवल परमेश्वर के लिये आचरण करना।

❖ ❖ ❖

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

लेखक का संक्षिप्त परिचय

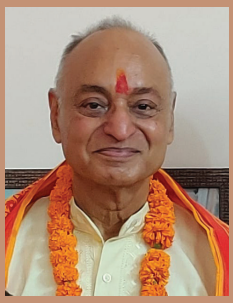

नाम:	रमेश चन्द्र गुप्त 'विनीत'
जन्म तिथि:	31 जुलाई 1946
जन्म स्थान:	ग्राम दुल्हेड़ा, जिला झज्जर (हरियाणा)
शिक्षा:	1. वाणिज्य स्नातक श्रीराम कॉलेज ऑफ कॉमर्स, दिल्ली विश्वविद्यालय - 1966 2. विधि स्नातक, विधि संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय - 1971
व्यवसाय:	नौकरी - पंजाब नेशनल बैंक - 1966-2000 वरिष्ठ प्रबंधक पद से स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति
सदस्य:	स्वामी रामानन्द साधना परिवार - 2005 से अद्यतन
अन्य प्रकाशन:	1. गीता प्रवेशिका (Geeta for the Beginners) 2. वन्दना, स्तुति, प्रार्थना तथा वैदिक सामान्य ज्ञान 3. भजन संग्रह 4. रामचरितमानस के लोकप्रिय अंश
प्राप्ति स्थान:	1018, महागुन मैंशन-1, इन्दिरापुरम्, गाज़ियाबाद-201014
सम्पर्क सूत्र:	9818385001